संस्कृत नाटक-समीक्षा

लेखक

प्रो० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र'

एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा

भूमिका

डा० हरिदत्त शास्त्री

एम० ए०, पी-एच० डी०, [illegible]वतीर्थ

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालेज, कानपुर



प्रकाशक

साहित्य निकेतन,

कानपुर

प्रथम संस्करण १९६०] [मूल्य ४)·६२

प्रकाशक :
श्याम नारायण कपूर
साहित्य निकेतन, श्रद्धानन्द पार्क,
कानपुर।

मूल्य ४ रुपये ६२ न० पै०

मुद्रक :
प्रेमचंद मेहरा
न्यू ईरा प्रेस,
८, साउथ रोड,
इलाहाबाद।

समर्पण

पूजार्ह पिता श्री
श्रीमान् ठा० रामचरन सिंह जी
के
पाद-पद्मो में
सादर
समर्पित

अनुचर
इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र'

दो शब्द

देववाणी संस्कृत का साहित्य भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। आध्यात्मिक ज्ञान की गहनता के साथ काव्यानन्द का सामञ्जस्य संस्कृत-साहित्य की अपनी विशेषता है। उसमें ज्ञान की गरिमा, भक्ति की भव्यता एवं काव्य की कमनीयता की त्रिवेणी एक साथ ही प्रवाहित हो रही है। उसका अक्षय भण्डार भारत की समस्त आधुनिक भाषाओ के साहित्य का उपजीव्य है। साहित्य के सभी अंगो की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य सम्पन्न एवं समृद्ध है। संस्कृत का नाटक-साहित्य भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ऐसे महान् एवं उन्नत साहित्य के आकलन मे विदेशी पंडितो ने अत्यधिक श्रम किया है। आज हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा है। वह संस्कृत की आत्मजा है। उसकी समृद्धि माता के वरद हस्त पर ही निर्भर है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि संस्कृत के अमर ग्रन्थ हिन्दी भाषा मे रूपान्तरित ही न हो अपितु उनका आलोचनात्मक विवेचन भी हो। इसी भावना से प्रेरित होकर मैने संस्कृत के कतिपय अमर रूपकों का परिचय देने का प्रयत्न किया है, जिससे अधिकारी विद्वानो का ध्यान इस ओर आकृषित हो और वे संस्कृत-साहित्य के सौन्दर्य एवं रस का आस्वादन हिन्दी मे भी कराने की ओर अग्रसर हो। यदि मेरे प्रयत्न ने संस्कृत और हिन्दी के महारथियो का ध्यान इधर आर्कषित किया तो मै अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

इस पुस्तक के प्रणयन मे मैने अनेको विद्वानों के ग्रंथो से सहायता प्राप्त की है। अतएव यदि मै उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन न करूँ तो मेरी कृतघ्नता होगी। मै सभी विद्वानों का आभारी हूँ।

गंगा दशहरा सं० २०१५ वि०
श्री साकेत महाविद्यालय
फैजाबाद

इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

भूमिका

संस्कृत साहित्यशास्त्रियो ने काव्य कोटि के तारतम्य का विवेचन करते हुए नाटक को काव्य की सर्वोत्तम विधा बताया है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्"। इसका कारण यह है कि ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म अवशिष्ट नही है जो नाटक द्वारा सुरुचिपूर्ण एवं आकर्षक प्रकार से प्रदर्शित व प्रचारित न हो सके। अतएव भरतमुनि ने कहा है :—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते" ॥१-११६॥

इसकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि जाति व ज्ञान की परिधि का उल्लंघन कर यह सर्वजन सुलभ होता है। उसका आनन्द श्रवण और नेत्र दोनो इन्द्रियों से प्राप्त किया जाता है। काव्य की अन्य विधाओ का अध्ययन करते समय पाठक को अपनी कल्पना-शक्ति का भी उपयोग करना पड़ता है, इसलिए उनका आनन्द वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसकी कल्पनाशक्ति पर्याप्त विकसित हो चुकी हो। किन्तु नाटक में संवाद के अतिरिक्त अभिनेताओ की भंगिमाएँ भी भावाभिव्यंजना मे सहायक होती हैं, उसमे दर्शको को कल्पनाशक्ति का उपयोग नही करना पड़ता है अतएव उसका आनन्द अशिक्षित व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है। इसी कारण भरत ने इसको "सार्ववर्णिक पञ्चम वेद" (१-१२) कहा है।

नाटक की इसी महत्ता के कारण नाटककार को भी महाकवि की पदवी से विभूषित किया गया है। कालिदास की कीर्ति के आधार 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' इतने नहीं है जितना 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नाटक है। विदेशो मे तो इसी नाटक के कारण उनकी यशः-

पताका लहरा रही है। भवभूति अपने नाटको – 'उत्तररामचरितम्', 'महावीरचरितम्' और 'मालतीमाधव' — के कारण ही अमर है। नाटको की इसी महत्ता के कारण सस्कृत के कवियो का ध्यान नाटक रचना की ओर अधिक रहा और उन्होने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से सस्कृत नाटक साहित्य को समृद्ध बनाकर आलोकित किया। संस्कृत नाटको की अतुल राशि मे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', 'उत्तररामचरितम्', 'मृच्छकटिक', 'वेणी-संहार', 'मुद्राराक्षस' और 'रत्नावली' वास्तव मे उत्कृष्ट कोटि के रत्न है।

प्रस्तुत पुस्तक 'संस्कृत नाटक-समीक्षा' मे लेखक ने इन्ही नाटको की गम्भीर और सारगर्भित आलोचना की है। हिन्दी मे संस्कृत कृतियो पर आलोचना पुस्तको का सर्वथा अभाव है। नाटको पर तो अभी तक कोई उल्लेख्य पुस्तक उपलब्ध नही है। संस्कृत प्राध्यापक प्रिय 'इन्द्र' ने इस पुस्तक द्वारा एक बडे अभाव की पूर्ति की है। इस पुस्तक मे नाटक-कारो का परिचय देकर वस्तु, पात्र, रस, प्रकृति-चित्रण और भाषा शैली की संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित समीक्षा करके लेखक ने गागर मे सागर भरने का प्रयत्न किया है। अनेको विवादास्पद स्थलो पर लेखक ने विभिन्न मतो को उद्धृत करते हुए तर्कसंवलित अपने विचारो को प्रस्तुत किया है। पुस्तक के आरम्भ मे प्रस्तावना के रूप मे सस्कृत नाटक-साहित्य का संक्षिप्त विकास देकर पुस्तक के महत्त्व को और भी बढा दिया है। लेखक की भाषा परिष्कृत, विचार सुलझे हुए और विवेचन शैली गम्भीरता एवं प्रभावपूर्ण है। यद्यपि पुस्तक स्नातकोत्तर परीक्षा के छात्रो को ध्यान में रखकर लिखी गई है, तथापि सस्कृत के सामान्य पाठको और अध्यापको के लिए भी यह समान रूप से उपयोगी है।

इस परिश्रम के लिए लेखक बधाई का पात्र है।

विजयादशमी संवत् २०१६
११—१०—५९

हरिदत्त शास्त्री

विषय-सूची

प्रस्तावना

आनन्दोपलब्धि मानव की प्रमुख आकांक्षा है। अनन्तानन्द-आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के निमित्त तो वे मनीषी, वे साधक, वे विचारक और वे ज्ञानी प्रवृत होते है, जिन्होने जगन्नियन्ता के इस प्रपच को वास्तव मे प्रपंच ही समझ लिया है तथा जिन्होने दृश्यो की नश्वरता का अनुभव किया है। किन्तु जो व्यक्ति सर्वेश्वर की इस लीला मे भी सार समझने है तथा जिन्होने भौतिक जगत् में भी कुछ तत्त्व समझा है, वे इसमे लिप्त रहते हुए भी आनन्द के अन्वेषक है। वे सासारिक विपमताओ से आक्रान्त होकर ऐसे क्षणो की खोज मे रहते है, जिनमे वे अपने को उनसे भिन्न करके कुछ आनन्द की अनुभूति कर सके। उस आनन्द की प्राप्ति के निमित्त मनुष्य भिन्न-भिन्न साधन अपनाता है। समस्त दिन कार्य से श्रमित होकर जब मनुष्य घर आता है तो अपने लाड़ले मचलते हुए नन्हे शिशु के लिए घोड़ा बनने मे भी उसे एक विशेप प्रकार के उल्लास की अनुभूति होती है और बालक भी अपने विनोद के क्षणो मे अपने माता-पिता के कार्यो और चेष्टाओ की अनुकृति करके न केवल प्रसन्नता का अनुभव करता है अपितु अज्ञात रूप से शिक्षा भी प्राप्त करता है। छोटे तथा बड़ो की इसी अनुकरण से प्रसन्न होने की भावना मे नाटक के बीज निहित है। इसीलिए धनञ्जय ने 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' कहा है। हम देखते है कि अनुकृति से आनन्द प्राप्त करने की यह प्रवृत्ति शैशव से ही प्राप्त होती है। इसलिए मानव जब अपनी सभ्यता के शैशव मे होगा, जब उसमे बुद्धि का उद्गम हुआ होगा और जब उसमे भावाभिव्यक्ति की क्षमता आई होगी, तभी से नाटक के बीजो का भी वपन हो गया होगा।

हमारे यहाँ तो नाटक की उत्पत्ति भी दैवी मानी जाती है। भरत के नाट्य शास्त्र के अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तर की समाप्ति और वैवस्वत

मन्वन्तर के आरम्भ होने पर संसार के दुखो से दुखी होकर इन्द्र आदि देवताओ ने ब्रह्माजी के पास जाकर ऐसे सार्ववर्णिक वेद की रचना करने की प्रार्थना की, जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी । उनकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजी ने चारो वेदो का ध्यान किया और ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' नामक पंचमवेद की रचना की और इन्द्र को आदेश दिया कि वे इसे विदग्ध, प्रगल्भ तथा श्रमजयी देवताओ को समझा दें । इन्द्र ने देवताओ के सम्बन्ध मे असमर्थता व्यक्त करते हुए वेदज्ञ मुनियो की समर्थता का सुझाव दिया । तब ब्रह्माजी के आदेश से भरत मुनि ने स्वयं उसे सीखकर अपने सौ पुत्रो को उसकी शिक्षा दी । भरत ने भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियो का आश्रय लेकर उसका प्रयोग किया । तब बृहस्पति की सम्मति से कैशिकी वृत्ति का प्रयोग किया गया, जिसके लिए ब्रह्माजी से अप्सराओ की माँग की गई और उन्होने अनेको तेजस्विनी अप्सराएँ उत्पन्न की । इसके बाद ब्रह्मा के आदेश से भरत ने इन्द्र के ध्वज महोत्सव के अवसर पर सुरविजय नाटक के अभिनय द्वारा नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रदर्शन किया । देवतागण अपनी विजय देखकर प्रसन्न हुए और उन्होने भरत को विभिन्न उपहार—नाट्य सम्बन्धी—दिये तथा अपनी पराजय का दृश्य देखकर दैत्यगण रुष्ट होकर उसमे विघ्न उपस्थित करने लगे । इन्द्र ने अपने ध्वज से उन विघ्नो को जर्जर कर दिया । तभी से उस ध्वज का नाम ही जर्जर हो गया । फिर भी यथा-कदा दैत्यगण विघ्न उपस्थित करते ही थे । इसलिए भरत की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्यशाला निर्माण की आज्ञा दी और विश्वकर्मा ने सुन्दर नाट्यशाला का निर्माण किया । ब्रह्माजी ने नाट्यशाला तथा अभिनेताओ की रक्षा के लिए विभिन्न स्थानो पर देवताओ की स्थापना की और दैत्यो को भी समझाया कि यह नाट्यवेद देव और दैत्य दोनो के लिए है तथा ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग और कर्म अवशिष्ट नहीं है, जो इसमे न हो ।

'अभिनय दर्पण' मे नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद भरत को दिया। भरत ने गन्धर्व और अप्सराओ के साथ नाट्य, नृत्त और नृत्य का प्रदर्शन शिव के सामने किया। शिव ने अपने अद्भुत का स्मरण करके अपने गणो द्वारा इस कला को भरत को सिखाया और इससे पूर्व भरत के प्रेम के कारण उन्होने पार्वती द्वारा लास्य और ताण्डु के द्वारा ताण्डव की शिक्षा दी तब सुन्तो ने इसे मर्त्यो को बताया। इसके अतिरिक्त पार्वती ने वाण की कन्या ऊषा को लास्य सिखाया। ऊषा ने द्वारका की गोपियो को और गोपियो ने सौराष्ट्र की स्त्रियो को और उन स्त्रियो ने क्रमशः अन्य देश की स्त्रियो को इसे सिखाया। इस प्रकार यह कला परम्परा से संसार मे आई।

धनञ्जय ने 'दशरूपक' के आरम्भ मे कहा है कि ब्रह्माजी ने समस्त वेदो का सार निकालकर जिस नाट्यवेद की रचना की थी, मुनि भरत ने भी जिसके प्रयोग के नियम बनाये थे, शङ्कर ने जिसमे ताण्डव अर्थात् उद्धत नृत्य किया था और पार्वती ने जिसमे लास्य किया था, उसके सब लक्षण कौन कह सकता है, फिर भी प्रकष्ट गुणोवाली रचना के द्वारा मै उस नाट्यवेद के लक्षणो को सक्षेप मे कहता हूँ।

शारदातनय ने अपने 'भाव प्रकाशन' मे नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो कथाएँ लिखी है। पहली के अनुसार कल्पान्त मे महेश्वर ने ब्रह्मा और विष्णु को उत्पन्न किया। ब्रह्मा ने संसार को बनाया। नन्दिकेश्वर ब्रह्मा के पास आये। उन्होने उन्हे नाट्यवेद और उसके प्रयोग की शिक्षा दी। उन्होने कहा कि की व्यवस्था भरत कर सकते है और यह कहकर अन्तर्धान हो गये। ब्रह्मा तथा अन्य देवता प्रसन्न हुए और, त्रिपुर दश-रूपक, खेला गया।

द्वितीय कथा के अनुसार स्वायम्भुव मनु राज्य की चिन्ताओ से ऊब कर अपने पिता सूर्यदेव के पास गये और अपने मन को शान्ति प्रदान करने का उपाय पूछा। सूर्यदेव ने कहा, सृष्टि कर चुकने पर ब्रह्मा भी मनुष्यो के लिए अपने कार्य से ऊबकर महाविष्णु के पास चिन्ताओ से मुक्ति पाने के हेतु गये थे। उन्होने उन्हे शिव के पास जाने का परामर्श

दिया। शिव ने अपने गण नन्दिकेश्वर को ब्रह्मा को नाट्यवेद की शिक्षा देने को कहा। ब्रह्मा सब सीखकर अपने निवासस्थान पर आये और कुछ समय तक विचार किया। तब उनके सामने अपने पाँच शिष्यो के साथ एक मुनि आये। उस समय सरस्वती जी भी वही बैठी थी। ब्रह्मा ने उन्हे नाट्यवेद सिखाया। उन्होने उसका अभिनय करके ब्रह्मा को प्रसन्न किया। ब्रह्मा ने उन्हे वरदान दिया कि अब आप लोग तीनो लोको में 'भरत' कहलायेंगे और यह नाट्यवेद भी तुम्हारे नाम पर 'भारत' कहलायेगा। यह कथा कहकर सूर्यदेव ने मनु से ब्रह्मा की प्रार्थना करने की सम्मति दी। मनु ने ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की। ब्रह्मा ने मनु की कठिनाइयो को जानकर भरतो को उनके साथ भारतवर्ष जाने की आज्ञा दी। तदनुसार भरत मनु के साथ अयोध्या आये। वहाँ उन्होने वे सब नाटक खेले जो देवताओ की रंगशाला मे खेले जाते थे। उन्ही भरतो के शिष्यो ने भारत के विभिन्न प्रदेशो मे धीरे-धीरे नाट्यवेद्र का प्रचार किया।

इस प्रकार इन सभी मतो से नाटक की दैवी उत्पत्ति सिद्ध होती है।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मैक्डोनल आदि विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद के संवाद सूक्तो मे इसके बीज निहित है। उन्होंने पुरूरवा और उर्वशी के संवाद को कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' का आधार बताया है। इसके अतिरिक्त यम-यमी संवाद, अगस्त्य-लोपामुद्रा शिष्य संवाद, विश्वामित्र-नदी संवाद, इन्द्रादिति-वामदेव संवाद, सपुत्रवशिष्ठेन्द्र संवाद इत्यादि अनेको सवाद ऋग्वेद मे मिलते है। डा० कीथ ने इन संवादो को आख्यान कहा है। डा० विण्डिश, ओल्डेनवर्ग, पिशेल और गेल्डेनर आदि विद्वानो ने भी इनको आख्यान ही माना है। इनके मत से मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक थे। पद्य भाग सरस और सुन्दर होने से क्रमश. एक कंठ से दूसरे कंठ मे परम्परा से चला आया और बचा रहा तथा गद्य भाग लुप्त हो गया। इसलिए इन संवाद सूक्तो मे नाटक के बीज नहीं मिलते। पर इतना अवश्य है इनसे प्रचुर सामग्री मिली।

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर, डा० श्रोडर, योहान्स हर्टेल और फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वाँलेवी के मतानुसार वैदिक कर्मकाण्ड मे नाटक के बीज पाए जाते है। उनके मत से यज्ञ आदि के अवसर पर सूक्तो का अभिनय गायन और नर्तन के साथ होता था। श्रोडर ने ऋग्वेद के सप्तम मंडल के १२० संख्यक मंडूक सूक्त को भी नाटकीय बताया है और यज्ञ के समय सोम विक्रय के अभिनय को स्वीकार किया है। इन विद्वानो के मत से इन धार्मिक संवादो मे वार्तालाप, भाषण और व्यंग्योक्ति मिलते हैं जो नाटकीय संवाद के गुण है। श्री हर्टेल ने इन सवांदो का गाया जाना प्रमाणित किया है। डा० कीथ ने इस मत का खंडन करते हुए कहा है कि ऋग्वेद के संवाद सूक्त गाये नहीं जाते थे, अपितु उनका शंसन होता था। गान के लिए तो सामवेद की रचना की गई। इसीलिए ऋग्वेद के मंत्रो को उच्चारण करनेवाला ऋत्विज होता था तथा साम गायन करनेवाला उद्गाता कहलाता था। श्री विण्टरनित्स इसी मत का समर्थन करते हुए यह अवश्य मानते है कि इन सूक्तो को नाटक स्थानापन्न तो नही पर नाट्य का एक दूसरा रूप माना जा सकता है।

डा० पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानते है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होने 'सूत्रधार' तथा 'स्थापक' शब्दो को लिया है। नाटक का प्रबन्धक सूत्रधार कहलाता है। और प्रस्तावना करनेवाला स्थापक इन दोनो शब्दो का सम्बन्ध पुत्तलिका नृत्य से भी है। पुत्तलिका नृत्य मे एक मनुष्य सूत्र मे पुतली को बाँधकर नचाता है और उसे नचाकर एक स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता है। इसलिए उस सूत्र को धारण करनेवाला वह सूत्रधार कहलाता है। इसी प्रकार 'स्थापक' का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखनेवाला। इन्ही शब्दो के आधार पर डा० पिशेल ने अपने मत की स्थापना की है। किन्तु यह मत सारहीन प्रतीत होता है। क्योकि मनुष्य ने पहले स्वयं अभिनय करना सीखा होगा तब उसी का आरोप पुतलियो पर किया होगा। पहले ही पुत्तलिका नृत्य को अपनाना अस्वाभाविक है। अतः पिशेल का यह मत समीचीन नही। सूत्रधार नाटक की कथावस्तु, नायक तथा रस आदि का वर्णन

संक्षेप में सूत्ररूप मे करता है। इसलिए उसे 'सूत्रधार' कहते है। इस शब्द का सम्बन्ध पुत्तलिका की डोरी पकड़नेवाले से नही।

डा० पिशेल ने ही एक अन्य मत यह भी प्रतिपादित किया था कि नाटक की उत्पत्ति छाया नाटको से हुई। जिसका समर्थन डा० कोनो और डा० ल्यूडर्स ने भी किया है। लेकिन संस्कृत के नाट्य ग्रंथो में कही भी छाया नाटक का उल्लेख नही मिलता। 'दूताङ्गद' नामक नाटक अवश्य मिलता है। लेकिन वह इतना प्राचीन नहीं है, जिसके आधार पर इस मत को मान लिया जाय।

डा० रिजवे ने नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे गम्भीरता से विचार करते हुए तथा पूर्ववर्ती आचार्यो के मतो का खंडन करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया कि नाटक के मूल मे वीरपूजा की भावना है। वीरो के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने एवं उनके चरित्र को स्मरण रखने की प्रवृत्ति ने ही नाटको को जन्म दिया। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होने रामलीला तथा कृष्णलीला का उल्लेख किया तथा विभिन्न प्रातो मे अभिनीत ऐतिहासिक वीरो के चरित्रो को उद्धृत किया। किन्तु रिजवे के इस मत मे भी सार प्रतीत नही होता। क्योकि संस्कृत के अधिकाश नाटको—अभिज्ञान शाकुन्तल, स्वप्नवासवदत्ता, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली इत्यादि मे वीरता की अपेक्षा प्रेम प्रदर्शन ही अधिक है।

डा० रिजवे के इस मत का खंडन करते हुए डा० कीथ ने एक नवीन मत की उद्भावना की है। उनके मतानुसार प्राकृतिक परिवर्तनों—शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि को मूर्तरूप से दिखाने की अभिलाषा से ही भारतीय नाटको का आरम्भ हुआ। इन्होने महाकाव्य मे उल्लिखित 'कंस बध' का निर्देश करते हुए कहा है कि उस नाटक के अभिनय में कृष्ण और उनके अनुयायी लाल वस्त्र धारण करते थे तथा कंस और उसके अनुयायी काले वस्त्र। इसका भाव यह है कि वे इन प्रतीको से कंस रूपी हेमन्त पर कृष्ण रूपी वसन्त की विजय दिखाते थे। वैसे तो

डा० कीथ ने ही बाद को इस मत से अपनी असहमति प्रकट कर दी थी। लेकिन भारतीय ग्रंथो मे भी इसका संकेत नही मिलता।

कतिपय पश्चिमी विद्वान् यूनानी नाटको की 'मे पोलनृत्य' से उत्पत्ति मानते हुए उन्ही के समान भारतीय नाटको की उत्पत्ति इन्द्रध्वज उत्सव से मानते है। वहाँ मई मास की प्रथम तिथि को किसी युवती को पुष्पालंकृत करके उसे मई की रानी मानकर एक लम्बा बॉस (मे पोल) गाड़कर उसके चारो ओर नृत्य गान करते हुए मे पोल उत्सव मनाते है। इसी मे पोल नृत्य को नाटक का प्रेरक मानते है। इसी के अनुसार इन्द्र-ध्वज उत्सव से भारतीय तथा नैपाली नाटको की उत्पत्ति मानते है। नैपाल मे तो 'इन्द्रध्वज' उत्सव अभी तक मनाया जाता है। मे पोल नृत्य और इन्द्रध्वज उत्सव मे उद्देश्य, भाव, क्रिया, रूढि तथा समय आदि किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। इसलिए यह मत भी मान्य नही है।

जर्मन विद्वान् डा० वेबर ने भारतीय नाटको की उत्पत्ति यूनानी नाटको से मानी है। उनके मत का खंडन डा० पिशेल कर चुके थे। किन्तु बाद को डा० विण्डिश ने पुनः इसी मत की स्थापना की। उन्होने अपने मत को पुष्ट करने के लिए 'मृच्छकटिक' पर यूनानी प्रभाव सिद्ध करने की चेष्टा की। किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि 'मृच्छकटिक' से बहुत पूर्व भारत मे नाटक अपनी विकासावस्था प्राप्त कर चुके थे। यूनानी प्रभाव को सिद्ध करनेवाले अन्य शब्द यवनिका, यवनी और शकारि आदि भी है। 'यवनिका' शब्द का वास्तविक रूप जवनिका है। 'जवनिका' ही संस्कृत शब्द है जो राजशेखर के 'कर्पूर मजरी' नामक सट्टक के 'जवनिकान्तरम्' शब्द का संस्कृतीकरण 'यवनिकान्तरम्' करने के भ्रम से सम्भवतः प्रचलित हो गया है। जवनिका शब्द का अर्थ अमरकोश मे 'पटवेश्म' (खेमा) लिखा है। नावो के पाल के अर्थ मे भी जवनिका का प्रयोग मिलता है और खेमो के ढकनेवाले परदे के अर्थ मे भी जवनिका शब्द आया है। इसी से बाद मे जवनिका का सामान्य अर्थ पर्दा हो

गया। अमरकोश, कल्पद्रुम कोश, शब्दरत्न समन्वय कोश, शब्द रत्नावली इत्यादि मे यही अर्थ दिया हुआ है। नाट्य-शास्त्र और दशरूपक आदि नाट्य ग्रंथो मे 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिए किया गया है तथा भर्तृहरिशतक, शिशुपाल बध, हरिवंश पुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण इत्यादि ग्रन्थो मे 'जवनिका' का प्रयोग सामान्य पर्दे के अर्थ मे हुआ है। इसलिए मूल शब्द जवनिका ही है यवनिका नही। अतः इस आधार पर यूनानी प्रभाव मानना सर्वथा असंगत है। इसके अतिरिक्त यूनानी नाटको मे जवनिका का अभाव मिलता है और सस्कृत नाट्यशाला मे जहाँ जवनिका की स्थिति मानी गई है, उसका यूनानी नाटको से कोई सम्बन्ध नही। 'यवनी' शब्द का प्रयोग दासियो के लिए हुआ है। सम्भवतः विदेशी दासियाँ भारत मे बिकने आती रही होगी। उन्ही को क्रय करके भारतीय नरेश अपने अन्तःपुर मे नियुक्त करते थे।

इसके अतिरिक्त कथानक के विकास, उसकी ग्रंथियो के सुलझाव तथा अन्य सभी विशेषताओ की दृष्टि से भी संस्कृत नाटक यूनानी नाटको से सर्वथा भिन्न है। यूनानी नाटको मे द्वन्द्व की प्रधानता होती है और उनके कथानक का विकास क्रम उत्कर्ष तथा चरम सीमा इत्यादि संस्कृत नाटको मे नहीं मिलती। संस्कृत नाटको मे चरित्र की प्रधानता होती है। संस्कृत नाटको का वाह्य विधान भी यूनानी नाटको से भिन्न होता है। संस्कृत नाटको के संवादो मे पात्रो के अनुकूल विभिन्न भाषाओं प्राकृतो आदि का प्रयोग होता है जब कि यूनानी नाटको मे इस प्रकार की कोई विशिष्टता नही होती। यूनानी नाटक प्रायः दुखान्त होते है और संस्कृत नाटक सुखान्त। संस्कृत नाटक पात्र, अभिनय, नाट्यशाला, भाव, विस्तार एवं संकलन इत्यादि सभी दृष्टियो से यूनानी नाटको से भिन्न है। अतएव यूनानी नाटकों से संस्कृत नाटको की उत्पत्ति मानना किसी भी प्रकार सिद्ध नही होता।

वास्तविकता यह है कि नाटक मूलतः भारतीय वस्तु है। चाहे

ब्रह्मा ने वेदो से सामग्री लेकर नाट्यवेद की रचना की हो। किन्तु वेदों मे ऐसे संकेत अवश्य मिलते है, जिनसे वैदिक काल मे नाटको की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद के सूक्तो से सोमविक्रय के समय होनेवाले अभिनय का पता चलता है। 'महाव्रतस्तोम' के अवसर पर कुमारियाँ नृत्य-गान के साथ अग्नि की परिक्रमा करती थी। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवे अध्याय की छठवी कण्डिका मे 'शैलूष' शब्द आया है, जिसका अर्थ है अभिनेता। कहा जाता है कि एक सूत को नृत्त के लिए और 'शैलूष' को गान के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। सामवेद के स्तोत्र तो रागबद्ध है ही जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग मे सगीतपूर्ण विकासावस्था मे था। वैदिक यज्ञ प्रधानतः अनुकृति ही थे। कौशीतकी ब्राह्मण मे यज्ञ के पुरोहित नृत्य करते हुए वर्णित है। उसी ब्राह्मण मे संगीत (गान, नृत्य और वाद्य) यज्ञ-यागादि का ही एक भाग कहा गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक युग मे वे सभी उपादान प्रचुर मात्रा में पाये जाते है जो नाटक के विकास के लिए अपेक्षित है।

वाल्मीकि रामायण मे नट, नर्तक, नाटक, नृत्य का उल्लेख अनेको स्थलो पर मिलता है। नृत्य तथा नाटकीय दृश्य उस समय नगरो और प्रासादो मे होते थे। मामा के घर दुःस्वप्न देखने से चिन्तित भरत को गीत, नृत्य और आनन्द प्रदायक नाटको से ही प्रसन्न करने की चेष्टा की गई थी। महाभारत मे भी नट, नाटक, गायक तथा सूत्रधार इत्यादि नाटकीय शब्द आये है। हरिवश पर्व मे, जो महाभारत का ही अंग है, स्पष्ट निर्देश है कि उस समय रामायण का नाटक के रूप मे प्रदर्शन होता था। वज्रनाभ के वध और प्रद्युम्न के विवाह के प्रकरण मे रामायण नाटक और कौवेररम्भाभिसार नामक नाटको के प्रदर्शन का उल्लेख विस्तार से किया गया है। यह भी कहा गया है कि प्रसिद्ध अभिनेता एक नाटक मे विष्णु भगवान् का जन्म उनकी राक्षसो के मारने की इच्छा की पूर्ति के हेतु प्रस्तुत करते है।

कतिपय पुराणो मे भी नाटको के अभिनय का उल्लेख है। श्री मद-भागवत पुराण मे अभिनेताओ का उल्लेख है। मारकण्डेय पुराण मे हम राजा शुक्रजीत के पुत्र ऋतध्वज को नाटकाभिनय मे अभिरुचि लेते हुए पाते है। वह अपना समय काव्य संगीत और नाटको की उन्नति में प्रसन्नतापूर्वक बिताता था।

बौद्ध साहित्य से भी नाटक की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'दिग्ध-निकाय' मे विभिन्न प्रकार के मनोरञ्जक दृश्यो सम्बन्धी शब्दो की सूची मिलती है। 'अवदान शतक' मे एक रूपक के रंगमञ्च पर प्रदर्शित करने का स्पष्ट उल्लेख है।

जैनियो के 'रायपसेणीयसुत्त' नामक आगम ग्रथ मे अम्बसालवन में महावीर स्वामी की वन्दना करते हुए सूर्याभदेव द्वारा बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटक दिखाने का उल्लेख किया गया है। महावीर स्वामी के लगभग दो सौ वर्ष बाद रचित भद्रबाहु द्वारा रचित कल्पसूत्र मे नाटक देखने से जैन साधुओ को विरत होने का उपदेश दिया गया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे नाटक मण्डलियो के कार्य तथा उनकी व्यवस्था का पर्याप्त वर्णन है। एक स्थान पर इसमे उल्लेख है कि यदि कोई नाटक मण्डली अन्य देश से रंगमञ्च पर नाटक प्रदर्शित करने के लिए आती थी तो उसे ५ पन राज्य को देने पड़ते थे। एक स्थान पर यह वर्णन है कि राजा का कर्त्तव्य होता था कि वे स्त्रियो के लिए ऐसे अध्यापको की नियुक्ति करे जो उनको रंगमञ्च पर अभिनय करना, गाना, नृत्य, अभिनय, लिखना, चित्रकला, वाद्य (विशेषतः वीणा, वेणु और मृदंग), हार बनाना, अपने शरीर को अंलकृत करना सिखा सके और इस सब का व्यय राज्य को उठाना पड़ता था। अन्य अभिनेताओ की रक्षा के लिए गणिकापुत्र तथा मुख्य नट नियुक्त किये जाते थे। अर्थ-शास्त्र मे यह भी उल्लेख है कि राजा ऐसे नटो, नर्तको, गायको, वादको, कहानी कहनेवालो, अभिनेताओ और ऐन्द्रजालिको को नियुक्त करते थे जो शत्रु के यहाँ जाकर गुप्तचर का कार्य कर सके।

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे अत्यन्त पुरातन युग के नाटककारों का उल्लेख किया है, जिनकी दृष्टियाँ नष्ट हो गई है। उसने विदूषक, पीठमर्द, विट और कुशीलव आदि के कार्य का उल्लेख किया है। पूर्व युग मे राजाओ के द्वारा नियुक्त नटो को सरस्वती मन्दिर मे नाटको का अभिनय करना पड़ता था। अन्य देशीय अभिनेताओ के साथ वही व्यवहार होता था जो अपने देशवालो के साथ।

पाणिनि ने भी अपने ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में शिलाली और कृशाश्व के नट सूत्रों का उल्लेख किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस समय नाटको का इतना प्रचार था कि नटो की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्र ग्रंथो की रचना होने लगी थी।

पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में 'कंसबध' और 'बलिबन्ध' के रंगमञ्च पर प्रदर्शित करने का उल्लेख है। महाभाष्य मे 'रसिकोनटाः' पद सिद्ध करता है कि पतञ्जलि के समय रस सिद्धान्त का भी पूर्ण ज्ञान था।

इस विवरण से सिद्ध होता है कि नाटक की उत्पत्ति भारत मे ही हुई और वह वैदिक काल से क्रमशः विकसित होता हुआ अपने उन्नत स्वरूप को प्राप्त कर सका।

अब प्रश्न यह है कि संस्कृत का सर्वप्रथम नाटककार किसे माना जाय। नाट्य ग्रंथो के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम 'समुद्र मंथन' नामक समवकार और 'त्रिपुरदाह' नामक डिम की रचना की। जिनका अभिनय परमेश्वर के समक्ष हिमालय के उत्तरी ढाल पर किया गया और सरस्वती ने 'लक्ष्मी स्वयम्वर' नामक नाटक रचा। भरत-मुनि ने इस नाटक को इन्द्र की रंगशाला मे खिलवाया। भरत मुनि द्वारा प्रणीत 'जामदग्न्य-विजय' व्यायोग, 'कुसुमशेखर विजय' इहामृग और 'शर्मिष्ठा-ययाति' अंक का उल्लेख मिलता है। महाभारत के हरिवंश पर्व मे 'रामायण नाटक' तथा 'कौरवेररम्भाभिसार' नाटक के अभिनीत होने का वर्णन किया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'कंस बध' और 'बलिवन्ध' नामक नाटको का उल्लेख किया है। इनसे ज्ञात होता है कि संस्कृत नाटको की

परम्परा अतीत काल से चली आ रही है। किन्तु उपर्युक्त नाटको मे से कोई भी कृति उपलब्ध नही है। लक्ष्य ग्रंथो के अनन्तर ही लक्षण ग्रंथो की रचना होती है। इस दृष्टि से भी नाट्यशास्त्र जैसी सुन्दर और प्रौढ रचना को देखकर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि नाटको की रचना उससे पूर्व अवश्य हुई होगी, लेकिन वे सभी काल-कवलित हो गये।

डा० कीथ ने अश्वघोष को सर्वप्रथम नाटककार माना है। जब कि अधिकाश विद्वान् भास को पहला नाटककार मानते है। भास कौटिल्य से पूर्व अवश्य ही अवतरित हो गये थे। क्योकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भास के प्रतिज्ञा, यौगन्धरायण का एक श्लोक किसी अन्य के नाम से उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त भास ने अपने नाटको मे जहाँ योगशास्त्र और अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है वहाँ उन्होने न तो पतंजलि के योगसूत्र को स्मरण किया है और न कौटिल्य के अर्थशास्त्र को, अपितु माहेश्वरं योगशास्त्रम् और बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम् की चर्चा की है। अतः वे कौटिल्य से पूर्व ई० पूर्व चौथी शताब्दी मे अवतरित हुए होगे। इसलिए उन्हे ही सर्वप्रथम नाटककार मानना अधिक समीचीन है।

भास ने लगभग एक दर्जन नाटको की रचना की है। उनके नाटको में 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण', 'स्वप्न वासवदत्ता', और 'अविभारक' ऐतिहासिक, 'चारुदत्त' सामाजिक, 'प्रतिभा' और 'अभिषेक' रामायण पर आधारित तथा 'पञ्चरात्र', 'बालचरित' 'मध्यम व्यायोग', 'दूतवाक्य', 'दूत घटोत्कच', 'कर्णभार' और 'उरुभंग' महाभारत की कथाओ पर आधारित नाटक है। भास ने अपने नाटको मे अपनी स्वाभाविक नाट्यकला का अद्भुत कौशल दिखाया है। उनका चरित्राङ्कन आकर्षक, घटना संगठन स्वाभाविक, भाषा छोटे-छोटे वाक्यो से पूर्ण किन्तु भावमयी है। उनकी कविता मानव हृदय के भावो की उद्घाटिका है। वाह्य प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर हुआ है। उन्होने स्वभावोक्ति एवं उपमा अलङ्कारो

को विशेष रूप से अपनाया है। यद्यपि भास प्रथम नाटककार माने जाते है किन्तु उनकी नाट्यकला को देखकर सहसा यह विश्वास नही होता कि सस्कृत नाटक अपने विकसित रूप मे ही पहले पहल कैसे आ गये। अवश्य उनसे पूर्व नाटको की परम्परा रही होगी।

भास के बाद अश्वघोष और कालिदास का अवतरण हुआ। इन दोनो नाटककारो मे से कौन पहले हुआ। इस विषय मे मतैक्य नही है। कालिदास का समय तो ई० पू० प्रथम शताब्दी से लेकर पंचम शताब्दी के मध्य भटकता फिरता है और अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। अधिकाश विद्वानो के मत से तो कालिदास ही अश्वघोष के पूर्ववर्ती थे। कालिदास वास्तव मे ऐसा कवि और नाटककार था जिसने अपनी प्रतिभा, कल्पना-शक्ति, भावुकता एवं कलाकारिता से संस्कृत साहित्य को गौरवान्वित करके ससार मे उच्चतम स्थान दिला दिया। उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' ने विदेशी विद्वानो तक को मन्त्रमुग्ध कर दिया। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अतिरिक्त उन्होने 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटको की भी रचना की। 'मालविकाग्निमित्र' मे विदर्भराज की पुत्री मालविका और अग्निमित्र का प्रेम दिखाया गया है। इस नाटक की कथावस्तु तो 'नाटिका' के अनुरूप है। किन्तु पाँच अङ्को के प्रयोग के कारण इसे नाटक कहा जाता है। 'विक्रमोर्वशीय' मे राजा पुरूरवा और उर्वशी अप्सरा का प्रेम प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार कालिदास के तीनो नाटको का विषय प्रेम है और उनका रस शृंगार है। तीनो नाटको को देखने से ज्ञात होता है कि उनकी कला उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई है और अभिज्ञान शाकुन्तल मे जाकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है।

बौद्ध कवि अश्वघोष ने 'शारिपुत्र प्रकरण' नामक नव अङ्को के एक सुन्दर प्रकरण की रचना की। जिसमे उन्होने शारिपुत्र की बौद्ध धर्म मे दीक्षा लेने के प्रसंग को चित्रित किया है। इसी प्रकरण की हस्तलिखित प्रति के साथ ही प्रतीक नाटक और सामाजिक नाटक के अंश भी उप-

लब्ध होते है। जिनमे डा० कीथ तो दोनो नाट्यांशो को अश्वघोष की ही रचना मानते है तथा डा० जानस्टन सामाजिक अंश को किसी अन्य की कृति कहते है।

इसके अनन्तर शूद्रक (?) ने 'मृच्छकटिक' नामक यथार्थवादी सामाजिक प्रकरण की रचना की। 'मृच्छकटिक' की कथा का आधार भास का चारुदत्त ही है। इस नाटककार का 'पद्मप्राभृतक' नामक एक भाण भी प्राप्त हुआ है।

हर्षवर्द्धन ने 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' नामक नाटिकायें और 'नागानन्द' नामक नाटक लिखा। दोनो नाटिकाओ के कथानक उदयन से सम्बन्धित है तथा कथा विकास आदि मे भी समता है। किन्तु 'प्रियदर्शिका' पहली कृति होने के कारण शिथिल है। सम्भवतः हर्षवर्द्धन ने उसकी त्रुटियो का अनुभव करके ही 'रत्नावली की रचना की थी। रत्नावली मे ही कलाकार की कला अपने निखरे हुए रूप मे प्रदर्शित हुई है। 'नागानन्द' जीमूतवाहन और मलयवती के परिणय तथा नागो की रक्षा के लिए जीमूतवाहन के शरीरदान की प्रेम, साहस, दान, वीरता और करुणा मिश्रित भावो की कहानी है। इस नाटक मे व्यापार अन्विति के अभाव के कारण शैथिल्य आ गया है।

हर्षवर्द्धन के अनन्तर विशाखदत्त ने 'मुद्रा राक्षस' नामक राजनीति प्रधान नाटक लिखा। इस नाटक मे यद्यपि काव्य तत्त्व का प्राधान्य नही है तथापि नाटकीय व्यापारो की दृष्टि से यह उत्तम कोटि का नाटक है। फिर भट्टनारायण ने महाभारत से कथानक लेकर 'वेणीसंहार' नामक वीर रस प्रधान नाटक की रचना की। इनके बाद महाकवि भवभूति ने अवतरित होकर अपनी कला से नाटक साहित्य को एक बार पुनः चमका दिया। कालिदास के बाद सर्वश्रेष्ठ नाटककार भवभूति ही हुए। कतिपय बातो मे तो वे कालिदास से भी आगे है। उन्होने भगवान् राम के जीवन से सम्बन्धित 'महावीर चरित' और 'उत्तर रामचरित' नाटक और 'मालती माधव' प्रकरण लिखा। उनमे क्रमशः वीर, करुण एवं शृंगार

रस प्रधान हैं। 'मालती माधव' मे कवि ने वीभत्स रस का भी समावेश किया है। संस्कृत नाटको मे वीभत्स रस का अभाव रहता है। इस क्षेत्र मे सम्भवतः भवभूति अकेले है। वैसे इस प्रकरण की कथावस्तु मे शिथिलता पाई जाती है। 'महावीर चरित' मे राम के जीवन के पूर्वार्द्ध की कथा हैं। रावण वध और सीता की प्राप्ति के साथ नाटक समाप्त हो जाता है। नाटककार ने अपनी कल्पना से नाटक के अनुरूप रामकथा मे कई परिवर्तन किये है। इसमे राम मानव के रूप मे चित्रित किये गये है। पर उनका चरित्र इस नाटक मे उतना आकर्षक और महान् नहीं है, जितना 'उत्तर रामचरित' मे है। 'उत्तर रामचरित' कवि की अमर कृति है।

भवभूति के बाद प्रसिद्ध नाटककार अनङ्गहर्ष अथवा मातृराज हुए। इनकी प्रसिद्ध रचना 'तापसवत्सराज' है। यह छः अङ्को का नाटक है। इसमे वासवदत्ता के विरह मे तापस बने हुए उदयन और पद्मावती के विवाह का कथानक है। उदयन सम्बन्धी नाटको मे यह महत्त्वपूर्ण है। इसकी भाषा सरल, सुबोध और रोचक है जो हृदय को तुरन्त प्रभावित कर लेती है। इसी समय के लगभग यशोवर्मन के 'रामाभ्युदय' नामक नाटक का उल्लेख मिलता है। ध्वन्यालोक मे आनन्दवर्द्धन ने इसका उल्लेख किया है। अवन्ति वर्मा के आश्रित कवि शिव स्वामिन ने भी कई नाटक, नाटिकाये और प्रकरण लिखे। वामन भट्टबाण का 'पार्वती परिणय' और उद्दण्डिन का 'मल्लिका मरुत' भी प्रसिद्ध कृतियाँ है।

नाटक साहित्य मे भवभूति के बाद मुरारि ने अधिक यश प्राप्त किया। मुरारि ने अपनी उपाधि 'बाल वाल्मीकि' रखी है। इनका अवतरण ईसवी आठवी के अन्त या नवी सदी के आरम्भ मे हुआ था। मुरारि ने भवभूति का पदविन्यास और गौड़ी शैली तथा माघ का पाण्डित्य लेकर अपने नाटक की रचना की। किन्तु जहाँ भवभूति की शैली मे भावानुरूप स्वाभाविकता है वहाँ मुरारि मे प्रयत्न साध्यता एवं कृत्रिमता दृष्टिगत होती है। मुरारि की केवल एक ही कृति उपलब्ध

है—अनर्घ राघव नाटक। जो लम्बे लम्बे अंक, कथावस्तु की विशृङ्खलता नाटकीय कौतूहल के अभाव तथा कृत्रिम शैली के कारण सफल नही कहा जा सकता। इस नाटक मे राम के समस्त जीवन विश्वामित्रागमन से रावण वध और रामराज्याभिषेक की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। समस्त कथानक सात अंको मे विभाजित किया गया है, जो अधिक लम्बे है तथा जिनमे व्यापार का अभाव और वर्णन की प्रचुरता है। भवभूति का इस नाटक पर अधिक प्रभाव पड़ा है। पर भवभूति के नाटको की सी सफलता प्राप्त नही हुई। कथावस्तु मे गत्यात्मकता एवं प्रभाव का अभाव तथा प्रभात, सन्ध्या, चन्द्रोदय और आश्रम आदि के अनावश्यक विस्तृत वर्णन इस नाटक के प्रमुख दोष है। वास्तव में इस नाटक मे न तो काव्य की सरसता है न नाटकीय प्रौढता, पाण्डित्य प्रदर्शन अवश्य हुआ है। फिर भी भवभूति के चरण-चिह्नो पर चलने के कारण यह प्रसिद्ध हो गया है।

मुरारि के बाद राजशेखर हुए, जो अपने को वाल्मीकि का अवतार घोषित करते थे। इनके पूर्वजो मे अनेक प्रसिद्ध कवि हो चुके है। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी संस्कृत और प्राकृत भाषाओ की पण्डिता थी। राजशेखर कन्नौज के प्रतिहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल के आश्रित थे। इन्होने 'बाल रामायण', 'बालभारत' नाटक 'विद्धसालभञ्जिका' नाटिका और 'कर्पूर मञ्जरी' सट्टक की रचना की। बाल रामायण एक विशाल नाटक है जिसमे भवभूति के राम सम्बन्धी दोनो नाटको की कथा को निबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इस नाटक मे भी नाटकीय व्यापार और गत्यात्मकता का अभाव है, काव्य-सौन्दर्य अवश्य पाया जाता है। यदि कवि नाटक न लिखकर महाकाव्य लिखता तो सम्भवत' अधिक सफल होता। कवि की शब्दसज्जा, ध्वनिमयता, वर्णनो की मनोरमता आदि से सिद्ध होता है कि उनकी काव्य-प्रतिभा प्रथम कोटि की थी। 'कर्पूर-मंजरी' मे इनकी कला अधिक मुखरित हुई है। राजशेखर के समकालीन कवि क्षेमीश्वर ने 'चण्डकौशिक' और 'नैषधानन्द' नामक

नाटको की रचना की। 'चराडकौशिक' मे सत्य हरिश्चन्द्र का जीवन प्रदर्शित किया गया है। यही उनकी प्रसिद्ध रचना है।

इसके बाद जयदेव ने 'प्रसन्न राघव' नाटक रामायण की कथा के आधार पर लिखा। अपनी ललितपदावली, सुमधुर कविता एवं प्रसाद-मयी शैली के कारण यह नाटक सस्कृत साहित्य मे अधिक लोकप्रिय हुआ। समस्त कथा सात अंको मे विभाजित है। राम और सीता का विवाह से पूर्व वाटिका मे मिलन दिखाकर कवि ने अपनी सुन्दर कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। हिन्दी के अमर कवि तुलसीदास भी इससे प्रभावित हुए है। 'प्रसन्न राघव' मे अलंकार सौन्दर्य और रीति सौन्दर्य तो अवश्य मिलता है किन्तु नाटकीय गत्यात्मकता का अभाव है। कई दृश्य तो अनाटकीय है, जिनमे याज्ञवल्क्य द्वारा दो मक्खियो के वार्तालाप को सुनना तथा रावण और बाणासुर का विवाद प्रमुख है। साथ ही सीता विरह मे राम को विक्षिप्त जैसा बना देना खटकता है। ये नाटककार के साथ तार्किक भी थे।

जयदेव के बाद कुलशेखर ने 'तपती संवरण' और 'सुभद्रा धनञ्जय' मधुसूदन मिश्र ने 'हनुमन्नाटक' दामोदर मिश्र ने भी 'हनुमन्नाटक' लिखा। रामचन्द्र ने 'नलविलास' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक, 'निर्भय भीम' व्यायोग तथा 'कौमुदी-मित्रानन्द' नामक प्रकरण की रचना की। जयसिंह सूरि ने 'हम्मीर मदमर्दन' और रविवर्मा ने 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नामक नाटक का प्रणयन किया। महादेव ने 'अद्भुत दर्पण' और शक्तिभद्र ने 'आश्चर्य चूड़ामणि' नामक नाटक रामकथा के आधार पर लिखे। धीर नाग का 'कुन्दमाला' नाटक भी रामायण की कथा से सम्बन्धित है, जिसमे उत्तर रामचरित का विशेष अनुकरण हुआ है। इन नाटको के अतिरिक्त कौमुदी महोत्सव नामक एक नाटक और मिलता है, जिसके प्रणेता का पता नही। कहा जाता है कि यह प्रसिद्ध स्त्री कवि विज्जका की रचना है। सस्कृत साहित्य मे प्रतीकात्मक नाटको की भी एक परम्परा रही है। इन नाटको को अमूर्त भावो को मूर्त रूप प्रदान करके पात्र के रूप मे

उपस्थित किया जाता है। कतिपय नाटको मे मूर्त और अमूर्त का मिश्रण भी मिलता है। ऊपर अश्वघोष के 'शारिपुत्र प्रकरण' के साथ प्रतीकात्मक नाट्याश का उल्लेख किया जा चुका है। इससे प्रतीकात्मक नाटको की परम्परा का आभास मिलता है। सबसे पहला प्रतीकात्मक नाटक कृष्ण मिश्र का 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' है। इस नाटक द्वारा नाटककार ने अद्वैत वेदान्त और विष्णुभक्ति का समन्वय दिखाया है। इसके बाद जैन कवि यशःपाल ने 'मोहराज पराजय' नामक पाँच अंको का नाटक लिखा। यह मिश्र प्रतीकात्मक नाटक है। जिसमे कुमारपाल, हेमचन्द्र और विदूषक पुरुष पात्र है। तथा पुण्यकेतु, विवेक, कृपासुन्दरी तथा व्यवसाय सागर आदि गुणो के प्रतीक है। इस नाटक का ऐतिहासिक महत्त्व है। वेदान्त देशिक (वेङ्कटनाथ) ने 'संकल्प सूर्योदय' नाटक लिखा। इसमे भी मोह की पराजय दिखाई गई है। इसके बाद १६वो सदी के पूर्वार्द्ध मे परमानन्द दास ने, जो कवि कर्णपूर के नाम से प्रसिद्ध है, 'चैतन्य चन्द्रोदय' की रचना की। यह भी मिश्र प्रतीकात्मक है। इसमे भक्ति, विराग, कलि और अधर्म इत्यादि प्रतीक पात्र है और चैतन्य देव तथा उनके शिष्य वास्तविक पात्र है। इस नाटक के द्वारा चैतन्य के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनन्तर आनन्दराम भावी 'वेद कवि' ने 'जीवानन्द' और 'विद्या परिणयन्न' नामक दो प्रतीकात्मक नाटक लिखे। प्रथम मे रोगो को पात्र रूप मे उपस्थित किया गया है और दूसरे मे शिव-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इन प्रतीकात्मक नाटको के अतिरिक्त सुभट कवि का 'दूतागद' नामक छाया नाटक भी मिलता है। छाया नाटक मे पात्र अपने वास्तविक रूप मे नहीं आते, उनके स्थान पर उनकी छाया पुतलियो के द्वारा प्रदर्शित की जाती है।

नाटको के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य मे रूपक के अन्य भेदो की भी रचना हुई। 'मृच्छकटिक' और 'मालती-माधव' के प्रकरण के बाद उद्दण्ड कवि ने 'मल्लिका मारुत' रामचन्द्र ने 'कौमुदी मित्रानन्द' रामभद्र मुनि नामक जैन कवि ने 'प्रबुद्ध रौहिणेय' एवं यशचन्द्र ने 'मुद्रित कुमुदचन्द्र' नामक प्रकरण की रचना की।

वररुचि का 'उभयाभिसारिका', शूद्रक का 'पद्मप्राभृतक' ईश्वरदत्त का 'धूर्तविट संवाद' तथा श्यामलिक का 'पादताडितक' भाण चुतुर्भाणी के नाम से मद्रास से प्रकाशित हुए है। इनके अतिरिक्त वामनभट्ट बाण ने 'शृंगार भूषण' रामभद्र दीक्षित ने 'शृंगार तिलक' (अय्या भाण), वरदाचार्य ने 'वसन्त तिलक' (अम्मा भाण), शंकर कवि ने 'शारदा-तिलक' नल्ला कवि ने 'शृंगार सर्वस्व', तथा युवराज ने 'रससदन भाण' नामक भाणो की रचना की। 'कर्पूर चरित' नामक भाण का अभिनय परमाल की आज्ञा से हुआ था।

प्रहसनो में महेन्द्र विक्रम वर्मा का 'मत्त विलास प्रहसन' शेखधर कवि-राज का 'कटक मेलक', ज्योतिरीश्वर कवि शेखर का 'धूर्त समागम', जगदीश्वर का 'हास्यार्णव', गोपीनाथ चक्रवर्ती का 'कौतुक सर्वस्व' साम-राज दीक्षित का 'धूर्तनर्तक' प्रसिद्ध है।

कालिंजर के राजा परमर्दिदेव के अमात्य वत्सराज ने रूपक साहित्य के भंडार को भरने के लिए स्तुत्यकार्य किया है। उन्होने रूपक के उन भेदों के भी उदाहरण प्रस्तुत किये जिनका संस्कृत साहित्य मे केवल नाम ही था, पर वे प्राप्य नही थे। उन्होने 'कर्पूर चरित भाण', 'हास्य चूडा-मणि' प्रहसन, 'त्रिपुरदाह' डिम, 'किरातार्जुनीय' व्यायोग, 'समुद्रमंथन' समवकार तथा 'रुक्मिणी परिणय' नामक इहामृग की रचना की। इनके अतिरिक्त वेकट वर्मा और रामकवि के 'कृष्ण विजय' और 'मन्मथोन्म-थन' नामक डिम एवं प्रह्लादन देव, काञ्चनाचार्य, रामचन्द्र और विश्वनाथ के क्रमशः 'पार्थपराक्रम', 'धनञ्जय विजय', 'निर्भय भीम', और 'सौगंधिका हरण' नामक व्यायोग भी उपलब्ध है। भास्कर कवि का 'उन्मत्तराघव' अङ्क मिलता है। 'माधवी' नामक बीथी और 'वीर-विजय' तथा 'रुक्मिणीहरण' नामक इहामृग का उल्लेख मिलता है। किन्तु ये अप्राय है।

उपरूपको मे नाटिका प्रसिद्ध है। हर्षवर्द्धन के अतिरिक्त विल्हण ने 'कर्ण सुन्दरी' मदनपाल सरस्वती ने 'विजयश्री' या 'पारिजात मञ्जरी'

मथुरादास ने 'वृषभानुजा' नामक नाटिकाओ की रचना की तथा राजशेखर की 'कर्पूर मञ्जरी' के अतिरिक्त घनश्याम कवि ने 'आनन्द सुन्दरी' एवं विश्वेश्वर पंडित ने 'श्रृंगार मञ्जरी' नामक सट्टक भी लिखे है ।

इस प्रकार हम देखते है कि संस्कृत का नाटक साहित्य अत्यन्त प्रौढ़ एवं समृद्ध है । कतिपय नाटककार तो संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटककारो में गिने जाते है ।

प्रस्तुत पुस्तक में 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'वेणी संहार', 'मुद्रा राक्षस' एवं 'उत्तर रामचरित' नाटक है । 'मृच्छकटिक' प्रकरण है तथा 'रत्नावली' नाटिका है । अतएव इन तीनो के लक्षण देना भी अप्रासंगिक न होगा ।

नाटक का कथानक ख्यात अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध होता है । उसका नायक अनेक गुणो से युक्त, धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति का अभिलाषी, महान् उत्साही, वेदत्रयी का रक्षक, प्रसिद्धवंशोद्भव या राजर्षि अथवा कोई दिव्य या दिव्यादित्य पुरुष होना चाहिए । नाटक के प्रख्यात वृत्त मे से उस अंश को निकाल देना चाहिए जो नायक के चरित्र के दृष्टि से अनुचित एवं रस की दृष्टि से विरोधी हो । नाटक मे श्रृंगार अथवा वीररस मे से एक प्रधान होना चाहिए अन्य रस अंक रूप मे हो । कथानक का विभाजन पाँच सन्धियो मे करना चाहिए । संधियाँ तथा उनके ६४ सन्ध्यंगो को निबद्ध करने का प्रयत्न होना चाहिए । नाटक मे पाँच से लेकर दस तक अङ्क होने चाहिए । पाँच अङ्क से अधिक अङ्कोवाले नाटक को महानाटक कहते है । नाटक की रचना गाय की पूँछ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए । अर्थात् थोडे से आरम्भ करके मध्यभाग अधिक क्रियाशील तथा बहु व्यापार गुम्फित हो और अन्त मे कार्य कलाप को कम करते हुए क्रमशः समाप्त करना चाहिए ।

प्रकरण का कथानक कवि कल्पित तथा लौकिक होता है । उसका नायक धीर, प्रशान्त-मन्त्री, ब्राह्मण अथवा वैश्य होता है । जो धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहता है तथा अनेक आपत्तियो के बाद

उसे अभीष्ट सिद्धि होती है। प्रकरण की नायिका कुलकन्या या वेश्या अथवा दोनो होती है। नायिका की दृष्टि से प्रकरण तीन प्रकार के होते है—१. शुद्ध (कुलकन्या नायिका वाला) २. विकृत (वेश्या नायिका हो) ३. संकीर्ण (जिसमे दोनो नायिका हो)। कुलकन्या घर में रहती और वेश्या बाहर। 'मृच्छकटिक' संकीर्ण प्रकरण है।

नाटिका मे प्रकरण की वस्तु (कल्पित) और नाटक का नायक (प्रख्यात राजा) होता है। नायक धीर ललित होता है। स्त्री-पात्रो का आधिक्य होता है। चार अङ्क होते है। रस शृंगार-प्रधान होता है। नायिका राजवंशोद्भवा, गायन प्रवीण, अनुरागवती और मुग्धा होती है। महारानी ज्येष्ठा, प्रगल्भा, गम्भीर और मानिनी होती है और इसी के आधीन नायक और नायिका का समागम होता है। नायिका अन्तःपुर और संगीत आदि के सम्बन्ध से नायक के दर्शनगोचर भी होती है और श्रुतिगोचर भी। नायक का नायिका के प्रति प्रेम नवीन अवस्था मे होता है जो उत्तरोत्तर बढता जाता है। नायक इस नायिका के प्रेम करते समय देवी से शंकित रहता है। नाटिका के चारो अङ्को मे कैशिकी वृत्ति के चारो अंगो का पालन क्रमशः किया जाता है। विमर्श सन्धि या तो होती ही नही या बहुत कम होती है। शेष चारो सन्धियाँ होती है। कुछ लोगो के मत से नाटिका मे एक, दो या तीन अङ्क भी हो सकते है।

१—अभिज्ञान-शाकुन्तलम्

विश्व-साहित्य के नाटक मणि अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रणेता कवि-शिरोमणि कालिदास थे। यशः शरीर से सदैव ही जीवित रहनेवाले इस रससिद्ध कवि के स्थान और काल के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। इनके जन्मस्थान के सम्बन्ध मे काश्मीर, कामरूप एवं उज्जयिनी का नाम लिया जाता है। कवि के ग्रंथो का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उसका उज्जयिनी के प्रति विशेष पक्षपात है। 'रघुवंश' और 'मेघदूत' दोनो काव्यो मे उज्जयिनी का विशद वर्णन किया है। 'मेघदूत' मे तो कवि ने जान-बूझकर मेघ के मार्ग को वक्रता प्रदान की है और उसे उज्जयिनी (विशाला) की शोभा का दर्शन करने का प्रलोभन दिया है (मेघदूत १-२६)। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास ने अपने अवतरण से उज्जयिनी को ही गौरवान्वित किया था। विद्वद्वर पं० चन्द्रबली पाण्डेय के मतानुसार कालिदास की जन्मभूमि आम्रकूट के समीप ही कही थी।[1]

इसी प्रकार कालिदास का समय भी अनिश्चय की परिधि मे ही भटक रहा है। कतिपय विद्वान् कालिदास का सम्बन्ध लंका के राजा कुमारदास (५०० ई०) से स्थापित करने का प्रयत्न करते है किन्तु उनका प्रयत्न कष्ट-कल्पना के अतिरिक्त कुछ नही है। वे जनश्रुतियाँ भी निराधार है जो उन्हे धाराधीश भोज (१००५-१०५४ ई०) का आश्रित मानती हैं। कवि कालिदास के समय की अन्तिम सीमा तो निश्चित ही समझनी चाहिए, क्योकि एहोल के शिलालेख (६३४) मे उनके नाम का उल्लेख है तथा संस्कृत गद्य-काव्य के प्राण बाणभट्ट (६०० ई०) ने उनका नाम श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। अतएव उनकी स्थिति ६०० ई० के अनन्तर

---

[1] संस्कृत कवि दर्शन—डा० भोलाशंकर व्यास पृ० ७७

तो कदापि मान्य नही हो सकती है। वत्स भट्टि (४७२ ई०) के शिलालेख की शैली पर 'मेघदूत' एवं 'ऋतु सहार' का प्रभाव पूर्णत. परिलक्षित होता है। अतः उससे पूर्व ही कालिदास की उपस्थिति माननी चाहिए।

कतिपय विद्वान् 'मेघदूत' मे प्रयुक्त "दिङ्नागानाम्" (पूर्व मेघ ५४) शब्द के आधार पर कालिदास को प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् दिङ्नाग (४०० ई०) का प्रतिद्वन्द्वी मानते है। किन्तु यह भी भ्रान्तिमात्र है, क्योकि कालिदास तथा दिङ्नाग के विरोध की पुष्टि के निमित्त कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। इसी प्रकार कुछ पाश्चात्य विद्वान् कुमारसम्भव मे प्रयुक्त "जामित्र" (७-१) शब्द को लेकर उनका समय ५०० ई० के लगभग निर्धारित करते है। वे इसे यूनानी प्रभाव मानते है और उनके मतानुसार ज्योतिष के यूनानी शब्दो का प्रयोग सर्वप्रथम आर्य भट्ट (५०० ई०) ने किया था। ऐसी दशा मे कालिदास की उपस्थिति आर्य भट्ट के अनन्तर ही होनी चाहिए। किन्तु वे यह भूल जाते है कि इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग बौद्ध कवि 'अश्वघोष' (१०० ई०) ने भी किया है। यही नहीं, अपितु 'बोधायन' (५०० ई० पू०) के गृह्य सूत्रो मे भी इस प्रकार के शब्दो का अभाव नहीं है। इन प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि पश्चिम के विद्वानो के इस मत मे कितना पक्षपात निहित है।

नवीन ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ज्योतिर्विदाभरण' के एक श्लोक में विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

"धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-वेताल भट्ट घटकर्पर कालिदासः।
ख्यातो वरामिहिरो नृपतेः सभाया, रत्नानि वैवररुचिर्नव विक्रमस्य ॥"

कहना न होगा कि इस नामावली मे कतिपय नाम काल्पनिक हैं और जो वास्तविक भी है, वे इतिहास की कसौटी पर समकालीन प्रमाणित नही होते। फिर भी कालिदास विक्रमादित्य की सभा के राजकवि थे, यह तो इस श्लोक से पुष्ट होता ही है। अब प्रश्न यह होता है कि वह विक्रमादित्य कौन थे। इसी पर हमे विचार करना है।

फर्ग्युसन तथा हार्नली आदि पाश्चात्य विद्वान् कालिदास को मालव-

राज यशोधर्मन का समकालीन मानते हैं, जिसने छठवीं शताब्दी मे हूण-नरेश मिहिरकुल को परास्त करके विक्रमादित्य की उपाधि धारण की तथा उस विजय के उपलक्ष्य मे ६०० वर्ष पूर्व का समय लेकर विक्रम संवत् चलाया। रघुवंश में रघु की दिग्विजय मे हूणो का उल्लेख देखकर इन विद्वानो ने यह कल्पना की है तथा प्राचीनता प्रदान करने के निमित्त संवत् चलाने के लिए इतने पूर्व का समय चुना है। किन्तु यह कल्पना हास्यास्पद ही प्रतीत होती है, क्योकि यदि यशोधर्मन को प्राचीनता के प्रति ही मोह था तो अपने से ६०० वर्ष पूर्व का समय ही संवत् चलाने के लिए निर्धारित क्यो किया, सहस्र वर्ष का समय क्यों नहीं ? फिर हूणो की पश्चिमोत्तर सीमा पर उपस्थिति ईसवी पूर्व भी प्रमाणित हो चुकी है। इतिहास इसका साक्षी है। अतः यह कल्पना निर्मूल है।

गुप्तवंश मे भी विक्रमादित्य उपाधिधारी दो सम्राट् हो गये है। एक चन्द्रगुप्त द्वितीय (३५७-४१३) और दूसरा स्कन्दगुप्त (४५५ ई०)। डा० रामकृष्ण भंडारकर, साहित्याचार्य रामावतार शर्मा[1] आदि भारतीय तथा कीथ आदि पाश्चात्य विद्वान् कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय का सम-कालीन मानते है और रघु की दिग्विजय को समुद्रगुप्त की दिग्विजय से प्रभावित कहते है। इसमे सन्देह नही कि चन्द्रगुप्त का समय शान्ति, कला एवं समृद्धि की दृष्टि से इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है। किन्तु कालिदास उसी समय अवतीर्ण हुए, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। प्रो० के० बी० पाठक[2] कालिदास को स्कन्दगुप्त का समकालीन मानते है और रघु द्वारा हूणो की पराजय के वर्णन को स्कन्दगुप्त द्वारा हूणो की पराजय से प्रभावित कहते है। विजयचन्द्र मजूमदार इत्यादि विद्वान् उनको कुमारगुप्त (४१३-४५५) का समसामयिक मानते है। 'कुमार-सम्भव' और 'विक्रमोर्वशीय' नामक कालिदास के ग्रंथो के नामकरण में

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० १५५—बलदेव उपाध्याय

[2] संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय

क्रमशः 'कुमार' और 'विक्रम' शब्द कुमारगुप्त के नाम की ही सूचना देते है। वास्तव मे यह तर्क इतना लचर है जो कही नही टिकता। इन विद्वानो ने गुप्तकाल मे कालिदास की उपस्थिति मानी है। स्वर्गीय चन्द्रशेखर पाडेय ने इन मतो का खंडन बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है।[1] उनके तर्को का सार यह है—गुप्तवंश के प्रथम चंद्रगुप्त ने गुप्त संवत् चलाया था, जिसका प्रयोग गुप्त सम्राटो ने किया है। स्कन्दगुप्त के गिरनार के शिलालेख मे भी गुप्त-संवत् का ही उल्लेख है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का अपने पितामह के संवत् को स्वीकार न करना तथा मालव संवत् को स्वीकार करके नवीन नाम देना एवं अपना स्वयं संवत् न चलाना तर्कपूर्ण नही है। साथ ही गुप्तवंशीय किसी सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नही था, उपाधि-मात्र थी। कोई नाम उपाधि की महत्ता तभी प्राप्त करता है, जब कि उस नाम का कोई प्रतापी पुरुष हुआ हो। अतः गुप्तकालसे पूर्व किसी विक्रमादित्य का होना निश्चित है।

गाथा सप्तशती (६-५४) मे विक्रम संवत् चलानेवाले उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य का उल्लेख है, जिसकी पुष्टि मेरुतुगाचार्य विरचित 'पद्यावली' तथा 'प्रबन्ध कोष' और 'मृत्युञ्जय महात्म्य' आदि ग्रंथो से होती है। ये विक्रमादित्य ईसा से ५७ वर्ष पूर्व हुए थे। कथा सरित्सागर मे भी इसका उल्लेख है। कविवर कालिदास इन्हीं विक्रमादित्य के दरबारी कवि थे। भारतीय जनश्रुति भी इसी को प्रमाणित मानती है।

कालिदास बौद्ध कवि अश्वघोष (१०० ई०) के पूर्व ही अवतीर्ण हुए थे, क्योकि उनके ग्रंथो का प्रभाव अश्वघोष पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। 'कुमारसम्भव' मे शिव के और 'रघुवंश' मे अज के राजमार्ग पर निकलने का वर्णन अश्वघोष के 'बुद्धचरित' मे बुद्ध के राजमार्ग पर निकलने के वर्णन के समान है। यदि अश्वघोष का ही कालिदास पर प्रभाव माना जाय तो क्या वह चोरी के भाव का प्रदर्शन बार-बार

---

[1] संस्कृत साहित्य की रूपरेखा।

करता, उसे छिपाने की चेष्टा न करता और यदि अश्वघोष उनसे पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका होता तो कालिदास तथा उनके परवर्ती कवि उसका नाम सम्मान से स्मरण नही करते ? किन्तु ऐसा नही हुआ है। अतएव अश्वघोष को ही कालिदास का ऋणी मानना चाहिए और कालिदास को उसका पूर्ववर्ती। अतः कालिदास की उपस्थिति ईसा से पूर्व ही सिद्ध होती है।

कालिदास के ग्रंथो से अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी उनका यही काल प्रमाणित होता है। उन्होने दाश्वान्, विश्रामहतोः, पेलव, त्रियम्बक, आस आदि शब्दो का प्रयोग किया है। कुछ धातुओ के लिट् लकार के पूर्ण रूप को दो भागो मे विभक्त किया है—जैसे, 'तं पातया प्रथम मास पपात पश्चात्'। पाणिनि के व्याकरणानुसार ये प्रयोग अशुद्ध है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास उस समय जीवित थे, जब पाणिनि तथा पतञ्जलि के नियमो की पूर्ण प्रतिष्ठा नही हो पाई थी।[1] अतः कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी ही मानना संगत है।

अभिज्ञान शाकुन्तल मे धीवर को चोरी के अपराध मे कठोर दण्ड तथा उत्तराधिकार नियम का जो रूप प्राप्त होता है, उससे भी ज्ञात होता है कि वह ईसा के पूर्व की कृति है, जब मनु, वशिष्ट और आपस्तम्ब ही धर्म के विषय मे प्रमाण माने जाते थे। शाकुन्तल मे ब्राह्मण धर्म का जो प्रतिपादन किया गया है, वह भी उसके ईसा से पूर्व की रचना होने का प्रमाण है। अतः कालिदास का समय ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मानना ही अधिक समीचीन है।

वस्तु-विवेचन—'अभिज्ञान शाकुन्तल' का कथानक महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' से लिया गया है। किन्तु कवि की उद्भाविनी प्रतिभा एवं सृजनमयी कल्पना ने महाभारत की नीरस एवं शुष्क कहानी को सरसता एवं गरिमा प्रदान की है और महाभारत के हीन चरित्रो क

---

1. History of Sanskrit literature—V. Vardacharya

उदात्तता प्रदान की है। महाभारत के अनुसार एक बार चन्द्रवंशी सम्राट् दुष्यन्त मृगया खेलते हुए ऋषि कण्व के आश्रम मे प्रविष्ट होते है और कन्द मूल-फल लाने के निमित्त गये हुए कण्व ऋषि के अभाव मे शकुन्तला उनका आतिथ्य करती है तथा राजा द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर अपनी उत्पत्ति का वृत्तान्त सुना देती है। राजा उस पर मुग्ध होकर प्रणय-याचना करता है। शकुन्तला उससे अपने पुत्र को ही राज्य प्रदान करने का वचन लेकर स्वयं को उसको समर्पित कर देती है। गान्धर्व-विवाह के अनन्तर राजा उससे सहवास करता है और अपनी काम-पिपासा शान्त करने के बाद शकुन्तला को बुलाने का आश्वासन देकर लौट आता है। राजा के प्रत्यावर्तन के पश्चात् ही कण्व आश्रम मे आते है और अपने तपोबल से समस्त घटना को जानकर गान्धर्व विवाह की स्वीकृति दे देते है। इस घटना के तीन वर्ष बाद शकुन्तला एक बालक को जन्म देती है, जो ६ वर्ष का होकर अपने पराक्रम का प्रदर्शन करने लगता है और सिह, गज, महिष आदि को वृक्षो से बाँध देता है। इसी से कण्व ऋषि उसका नाम सर्वदमन रखते है। नौ वर्ष से अधिक शकुन्तला को अपने आश्रम मे रखना उचित न समझकर कण्व उसे पुत्रसहित कुछ तपस्वियो के साथ दुष्यन्त के समीप भेज देते है। दुष्यन्त उसे अपरिचित बताकर उसके साथ अपने सम्बन्ध को स्वीकार नही करता। बहुत कहने पर भी जब दुष्यन्त शकुन्तला को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता तो वह जाने को उद्यत् होती है। इतने मे ही आकाशवाणी दुष्यन्त से अपनी भार्या शकुन्तला को ग्रहण करने के लिए कहती है और दुष्यन्त उसे ग्रहण कर लेता है तथा बताता है कि मै भी समस्त वृत्तान्त को जानता था, किन्तु आपकी शंका के भय से स्वीकार न कर सका। सर्व-दमन का नाम भरत रखा जाता है।

इस प्रकार इस कथा के अनुसार राजा दुष्यन्त अत्यन्त कामी, लोलुप, स्वार्थी एवं व्यभिचारी पुरुष सिद्ध होता है तथा शकुन्तला द्वारा पुत्र को राज्य देने का वचन प्राप्त करना प्रेम नही व्यापारमात्र रह जाता

है और प्रथम सम्मिलन मे ही समागम आदि उसके चरित्र को पतित कर देता है। इसके अतिरिक्त तीन वर्ष बाद पुत्र के प्रसव से उसके चरित्र मे कलंक ही लग जाता है। इस घटना के नौ वर्ष तक शकुन्तला को आश्रम में रखना और फिर न रखना भी युक्तिपूर्ण नही है। इससे ऋषि कण्व की विवेकशक्ति को आघात पहुँचता है। शकुन्तला के पहुँ-चने पर दुष्यन्त का व्यवहार उसके पतन की पराकाष्ठा है।

कवि कालिदास की प्रतिभा का प्रकाश और कल्पना की कमनीयता पाकर यह कथानक खिल उठा है और शकुन्तला तथा दुष्यन्त दोनो के चरित्र पावन हो गये है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का कथानक 'महाभारत' की अपेक्षा 'पद्मपुराण' से अधिक मिलता है। किन्तु पद्मपुराण के इस आख्यान की शैली कालिदास से प्रभावित प्रतीत होती है। अतएव अधि-काश विद्वान् इसे इस नाटक के बाद की रचना मानते है और कालिदास को उसका ऋणी स्वीकार नही करते।

कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रथम अंक मे ही अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। राजा दुष्यन्त मृगया खेलते समय एक तपोवन के मृग का अनुसरण करते हुए कण्व ऋषि के आश्रम मे पहुँचते है और एक तपस्वी द्वारा तपोवन जानकर उस मृग को अवध्य घोषित कर देते है। उस समय कण्व ऋषि-शकुन्तला के किसी अमंगल की शाति के निमित्त सोमतीर्थ गये हुए थे। ऋषि कण्व को अपनी कल्पना से सोम-तीर्थ भेजकर कवि ने भावी घटनाओ की सुन्दर और स्वाभाविक पृष्ठ-भूमि निर्मित की है। जिससे दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम को क्रमशः विकास का अवसर प्राप्त होता है। राजा दुष्यन्त तपस्वी के आदेश से कण्व ऋषि के आश्रम मे प्रविष्ट होते है और शकुन्तला अपनी सखियो—प्रियम्वदा और अनुसुइया के साथ पादप सिञ्चन करती हुई उनके दृष्टि-पथ में आती है। दुष्यन्त उसकी ओर आकर्षित अवश्य होते है, किन्तु मर्यादा का औचित्य उनमे आते हुए विकार को रोकता है। अचानक भ्रमर बाधा होने पर—शकुन्तला के आकुल होने पर दुष्यन्त प्रकट हो जाते

है और भ्रमर से शकुन्तला की रक्षा करते हैं। सखियो से वार्तालाप करते समय उन्हे शकुन्तला के जीवन-वृत्त का परिचय प्राप्त होता है, तभी वे उसे क्षत्रिय कन्या जानकर अपने प्रेम के अनुरूप समझते है। इस अवसर पर भ्रमर-बाधा की कल्पना से कथानक मे नाटकीयता ही नही आई है, अपितु स्वाभाविकता और चारुता का भी आविर्भाव हुआ है। सखियो की उपस्थिति से भारतीय संस्कृति की मर्यादा और शकुन्तला की नारी-सुलभ लज्जा की भी रक्षा हो गई है। इसी समय शकुन्तला के हृदय मे भी प्रेम-अंकुर जम जाता है। कवि ने सखियो की परिहासमयी उक्तियो के द्वारा दोनो को पारस्परिक प्रेम की प्रेरणा देकर बडे कौशल से इस अङ्क को समाप्त किया है। किसी हाथी के उपद्रव से तपोवन मे आतंक फैल जाने और उसके कोलाहल को सुनकर गौतमी की घबराहट का अनुमान करके प्रियम्वदा और अनुसुइया जाने लगती है और शकुन्तला भी पैर से काँटा निकालने के बहाने घूमकर दुष्यन्त को देखती हुई—अपने प्रेम को अभिव्यक्त करके राजा के हृदय को आन्दोलित करती हुई—चली जाती है।

द्वितीय अङ्क मे विरह-व्यथित राजा की मनोदशा एवं अपने अन्तरंग मित्र विदूषक के साथ वार्तालाप मे प्रणयाभिव्यक्ति का चित्रण किया गया है। तपस्वियो द्वारा यज्ञ-रक्षार्थ एवं दानवो के दमनार्थ राजा से आश्रम मे कतिपय दिवस रुकने की प्रार्थना कराके कवि ने प्रणय पल्लवन के निमित्त उपयुक्त वातावरण की सृष्टि की है। साथ ही माताओ द्वारा प्रत्यावर्तन का सन्देश भिजवाकर राजा की अस्थिरावस्था एवं व्याकुलता का अङ्कन किया गया है। राजा अपने स्थान पर माढव्य को माताओ के समीप भेज देता है। माढव्य के गमन करते समय कालिदास ने राजा द्वारा शकुन्तला सम्बन्धी प्रणय को मिथ्या एवं उपहास मात्र कहलवाकर भावी घटना के औचित्य की रक्षा की है। सामाजिक-दर्शक—दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को स्वीकार न करने तथा स्मृति न आने के समय माढव्य द्वारा सचेत करने की शंका नहीं कर पाता।

तृतीय अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय-पीड़ा, मिलन तथा आमोद आदि का स्वाभाविक एवं हृदयावर्जक वर्णन हुआ है। काम-पीड़िता शकुन्तला विरह-वह्नि से प्रज्वलित होकर 'कुज मे अर्द्ध चेतना-वस्था मे पड़ी है। अनुसुइया और प्रियम्वदा दोनो सखियाँ शीतोपचार मे संलग्न है। पीड़ा के आधिक्य के कारण शकुन्तला अपने हृदय-दान को गुप्त नहीं रख पाती है। अत सखियाँ उसे सन्देश प्रेषित करने के निमित्त प्रेरित करती है। विरह-विदग्ध राजा भी छिपकर शकुन्तला की काम-वेदना और प्रेम के कारण होनेवाली आकुलता को देखकर सन्तोष का अनुभव करता है और जब सखियो की प्रेरणा से शकुन्तला कमल-पत्र पर सन्देश लिख चुकती है तो अवसर पाकर दुष्यन्त प्रकट हो जाता है। सखियाँ दुष्यन्त के हृदय मे भी प्रेम को प्रदीप्त करके मृग शावक को उसकी माँ के मिलाने के ब्याज से चली जाती है और युगल प्रेमी एकान्त कुज मे अपने प्रेम-प्रदर्शन एव आमोद प्रमोद का अवसर प्राप्त करते है। कालिदास की कला यहाँ अत्यन्त व्यावहारिक, मधुर तथा रसवती हो उठी है। कवि ने इस मिलन मे नारी की शालीनता' लज्जाशीलता और गरिभा तथा भारतीय संस्कृति की मर्यादा की रक्षा करते हुए भी प्रेम की सरस धारा प्रवाहित की है। शकुन्तला का एक बार कुज से जाना और मृणाल-वलय के व्याज से पुनः आना उसके हृदय की प्रेमातुरता को प्रकट करता है। उसके अनन्तर की प्रेमलीला का स्पष्ट शृंगारिक वर्णन करते हुए और उसे अश्लीलता की सीमा का स्पर्श कराते हुए भी कवि ने नाटकीय औचित्य की कौशल से रक्षा की है। गौतमी द्वारा रात्रि की सूचना देकर शकुन्तला के गमन और दुष्यन्त के प्रच्छन्न होने के द्वारा अत्यन्त स्वाभाविक रूप से अंक को समाप्त किया है। शकुन्तला का 'आर्यपुत्र' सम्बोधन गान्धर्व विवाह की सूचना देता है और जाते समय लता मण्डल को पुनः परिभोग के निमित्त आमंत्रण करना भावी सहवास और गर्भधारण की ओर इंगित करता है जिसे रगमञ्च पर दिखाना भारतीय नाट्य कला के विपरीत होता। इस प्रकार कवि ने

अपने कलाकार को कौशल प्रदान किया है। राक्षसो से यज्ञ की रक्षा करने के निमित्त दुष्यन्त भी लतामंडप का त्याग करते है।

चतुर्थ अंक कालिदास की कला का चरमोत्कर्ष है। इसमे उनकी कल्पना का कौशल, प्रतिभाका प्रदर्शन, भावना की भव्यता, हृदय की स्निग्धता, लौकिक ज्ञान की गुरुता एवं नैतिकता की निराली छटा का एक साथ दर्शन होता है। विष्कम्भक मे शकुन्तला की प्रेममय तन्मयता और उसके कारण आतिथ्य से वंचित कुपित ऋषि दुर्वासा का प्रेमी द्वारा उसे विस्मृत किये जाने का शाप और साखियो द्वारा अनुनय करने पर अभिज्ञान दर्शन से प्रेमी की स्मृति का पुनर्जागरण आदि की महत्त्व-पूर्ण घटना का वर्णन करके कालिदास ने अपने अपूर्व नाट्य कौशल का प्रदर्शन किया है। विष्कम्भक की यह घटना ही नाटक की प्राण है, जिसके कारण नाटक का नामकरण—'अभिज्ञान शाकुन्तल'—हुआ है, जड़ मुद्रिका को चेतना प्राप्त हुई है और महाभारत के दुष्यन्त तथा शकुन्तला के चरित्रो को भव्यता और पावनता का गौरव मिला है। इसी अंक मे ऋषि कण्व सोमतीर्थ से आकर गान्धर्व विवाह के औचित्य को स्वीकार करके तथा शकुन्तला को गर्भवती जानकर उसे पति-गृह प्रेषित करने की व्यवस्था करते है। इस समय कालिदास का हृदय ही मानो साकार कवित्व बनकर अवतरित हो गया है। तपोवन की नीरव करुणा पितृ हृदय की कोमल भावनाओ का सामञ्जस्य पाकर बरबस नेत्रो से जल प्रवाहित करा देती है। स्वर्गीय चन्द्रशेखर पाण्डेय ने ठीक ही कहा है[१]—"कण्व की व्यग्रता, अनुसुइया और प्रियम्वदा की आनन्द मे परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम सन्देश और भावी गृहलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता मे विविध भाव और घटनाये ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुई है कि प्रतीत होता है कि यह अंक मानो शब्द निर्मित मानव हृदय ही हो।" शकुन्तला, गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत के साथ दुष्यन्त के समीप प्रेषित की जाती है।

---

[१] संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—द्वि० सं० पृ० १२८

पंचम अंक मे शकुन्तला कण्व के शिष्यो और गौतमी के साथ दुष्यन्त की सभा मे उपस्थित होती है। दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त उसे न पहचानकर अपनी पत्नी स्वीकार नहीं करता। शकुन्तला प्रमाणस्वरूप उसकी नामाङ्कित मुद्रिका उपस्थित करना चाहती है, किन्तु उसे अपनी उँगली मे न पाकर किंकर्तव्यविमूढ सी हो जाती है। पुनः विभिन्न घटनाओ के वर्णन से राजा की स्मृति को जाग्रत् करने का प्रयास करती है, किन्तु व्यर्थ। राजा उसके तथा ऋषिकुमारो के कुपित होने पर भी उसे स्वीकार नही करता। यहाँ एक ओर गर्भवती, पति द्वारा परित्यक्ता अनाथा शकुन्तला की करुण दशा देखकर पाषाण भी द्रवित हो उठता है, दूसरी ओर राजा की दृढता और चरित्र सम्बन्धिनी महानता देखकर उसके प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ती है। शारद्वत की भर्त्सना से तो शकुन्तला निःसहाया होकर अत्यधिक करुणा की प्रतिमूर्ति भासित होने लगती है। अन्त मे पुरोहित के गृह गमन करते समय मार्ग से ही उसे एक दिव्य ज्योति उठा लाती है।

षष्ठाङ्क के प्रवेशक मे शक्रावतार निवासी धीवर द्वारा मुद्रिका की प्राप्ति होती है। कवि ने उस समय राज्याधिकारियो तथा धीवर के स्वाभाविक वार्तालाप द्वारा तत्कालीन लोकजीवन और राजकर्मचारियो के स्वभाव का वास्तविक अकन किया है। प्रत्यभिज्ञान-स्वनामाङ्कित मुद्रिका के दर्शन से दुष्यन्त के स्मृति-पटल से शापजनित विस्मृति का आवरण तुरन्त हट जाता है और वह प्रियतमा के प्रत्याख्यान एवं तिरस्कार जनित मानसिक अनुताप से व्यथित हो उठता है। विरह एवं पश्चात्ताप की ज्वाला से दग्ध दुष्यन्त चित्राङ्कन आदि के द्वारा मन बहलाने की चेष्टा करता है। उसका प्रेम परिताप की अग्नि के कारण कुन्दन सा बन गया है। उसी समय निस्सन्तान समुद्र-वणिक की मृत्यु की सूचना पाकर राजा का ध्यान अपनी सतानहीनता की ओर जाता है और वह अपत्याभाव के दुख से दुखी होने लगता है तथा तभी गर्भवती शकुन्तला का ध्यान आकर उसे संज्ञाहीन बना देता है। राजा की इसी अवस्था

मे कालिदास ने इन्द्र सारथि मातलि द्वारा विदूषक माधव्य को पीड़ित कराकर तथा माधव्य के आर्तनाद से राजा को स्तम्भित करके जो अचानक भाव परिवर्तन किया है, उसके द्वारा अपने मनोविज्ञान सम्बन्धी पाण्डित्य का प्रमाण भी उपस्थित किया है। वेदना का अचानक आश्चर्य, क्रोध, उत्साह और विनोद मे परिणत होना कालिदास की कला का ही कार्य था। कर्तव्यशील राजा विरह-व्यथा को त्यागकर अपने मित्र की मुक्ति के हेतु धनुष-वाण लेकर तत्पर हो जाता है। तभी मातलि विदूषक के साथ उपस्थित होकर इन्द्र का सदेश राजा को सुनाता है कि आपको कालनेमि के वंशज राक्षसो के दमन हेतु आमन्त्रित किया गया है। राजा उसके साथ प्रस्थान करते है।

अन्तिम अंक मे राजा दुष्यन्त इन्द्र के कार्य की समाप्ति के अनन्तर भूतल की ओर गगन-मार्ग से आते हुए मारीच ऋषि के शान्त, सुन्दर एवं पावन आश्रम मे प्रविष्ट होते है। जहाँ वे सर्वदमन को सिह के बच्चो से खेलते हुए देखकर आश्चर्यचकित हो जाते है और उनके हृदय मे अचानक वात्सल्य उमड़ पड़ता है और वे उसे अपने पुत्र की भाँति स्नेह करने लगते है। उसी समय बालक की भुजा मे बद्ध अपराजिता औषधि गिर जाती है, जिसे राजा उठा लेते है, जिससे समीपवर्तिनी तापस-कन्याओ को उसके दुष्यन्त होने का विश्वास हो जाता है। तभी मुक्त कुन्तला, विरह व्यथिता, तपस्या और प्रेम की मूर्ति शकुन्तला उपस्थित होती है। दोनो का करुण मिलन होता है। शिशु द्वारा राजा का परिचय पूछने पर शकुन्तला जो उत्तर देती है,[1] उसमे आत्मिक वेदना, पति की निष्ठुरता, विधि की विडम्बना, अपत्य स्नेह इत्यादि अनेको भावनाओ की व्यञ्जना एक साथ होती है। उसका यह उत्तर ही राजा को उसके चरणो पर गिरने को विवश कर देता है। इस मिलन के उपरान्त दोनो भगवान् मारीच से आशीर्वाद ग्रहण करने उनके पास जाते है और भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है। इस प्रकार हम देखते है कि

[1] वत्स, ते भागधेयानि पृच्छ।

नाटक के कथानक की घटनाओ मे पूर्वापर सम्बन्ध के साथ स्वाभाविक गति भी है और उसका विकास अत्यन्त कुशलता के साथ हुआ है।

पात्र-परिचय—'अभिज्ञान शाकुन्तल' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उच्च कोटि का नाटक है। कवि ने किस प्रकार महाभारत के नीरस, शुष्क, पतित एवं अस्वाभाविक चरित्रो को अपनी कल-कल्पना एवं भव्य-भावना द्वारा सरस, उन्नत और स्वाभाविक रूप से चित्रित किया है, इसका संकेत किया जा चुका है। चरित्रो की आदर्शात्मक प्रतिष्ठा करते हुए भी, उनमे उदात्तता का समावेश करते हुए भी कवि ने उन्हे भूतल का प्राणी ही रखा है, केवल कल्पनालोक के प्राणी न बनाकर प्रस्तर-प्रतिमा सी निर्जीवता प्रदान नही की अपनी मानवोचित दुर्बलताओ के कारण ही 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पात्र अमरता प्राप्त कर सके है। उत्थान-पतन, उत्कर्षापकर्ष एवं सद्सद भावनाओ के मध्य कालिदास के चरित्र खिल उठे है।

दुष्यन्त 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के धीरोदात्त नायक है। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली एवं आकर्षक है। प्रियम्वदा के शब्दो मे उनकी गम्भीर आकृति एवं वाणी-माधुर्य का वर्णन इस प्रकार हुआ है—'दुरवगाहगम्भीराकृतिर्मधुरमालापनप्रभुत्वदाक्षिण्यं विस्तारयति।' मृगया से श्रमित उनके जिस रूप का वर्णन सेनापति ने किया है (२-४) उससे उनके शारीरिक सुगठन, परिश्रमशीलता एवं बलिष्ठता का परिचय मिलता है। उनकी शारीरिक शक्ति का गौरव राक्षसो से तपोवन की रक्षा तथा इन्द्र के शत्रु कालनेमिवंशीय राक्षसो के दमन से बढ़ जाता है। दुष्यन्त उत्साह और वीरता की प्रतिमूर्ति प्रतीत होते है। मातलि द्वारा पीड़ित माढव्य की करुण पुकार को सुनकर तुरन्त ही धनुष पर बाण चढाकर उसकी रक्षा के निमित्त दौड़ पड़ते है। धनुर्विद्या में उनकी निपुणता तिरस्कारिणी द्वारा छिपे हुए मातलि पर बाण छोड़ने से पूर्व कहे हुए इन वचनो से प्रकट होती है।

"यो हनिष्य त वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रावर्जयत्यप ॥"

विनय वीरता का आभूषण है और राजा दुष्यन्त उससे अलंकृत है। आश्रमवासी मुनिकुमारो के प्रति होनेवाले शिष्ट व्यवहार मे, अनुसुइया और प्रियम्वदा से होनेवाले वार्तालाप मे, मातलि द्वारा प्रशंसा करने पर इन्द्र के प्रति व्यक्त किये गये सम्मान एवं कृतज्ञतासूचक शब्दो मे दुष्यन्त के हृदय की विनयशीलता उमड़ सी पड़ी है।

आरम्भ मे सम्राट् दुष्यन्त से हमारा परिचय मृगया-प्रिय वीर पुरुष के रूप मे होता है, जो मृगया के सम्बन्ध मे भी मर्यादित रहते है। यह जानकर कि उनका लक्ष्य मृग तपोवन से सम्बन्धित है, उनकी प्रत्यञ्चा शिथिल पड़ जाती है। आश्रम मे प्रवेश करते ही अनिन्द्य सुन्दरी आश्रम-ललाभभूता शकुन्तला का दर्शन करके दुष्यन्त के हृदय मे प्रेम का अंकुर उदित होता है। अनुपम रूपलावण्यवती शकुन्तला को देखकर उसकी ओर आर्कषित होना स्वाभाविक ही था। किन्तु वे मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। एक भद्र पुरुष के समान उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने से पूर्व यह निश्चय करना आवश्यक समझते है कि वह उनकी प्रियतमा होने के योग्य है भी अथवा नहीं। यद्यपि आकस्मिक आकर्षण और हृद्गत विकार उसे अपनी योग्य पात्रा मानने को विवश करता है :—

"असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्य्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥" १-२२ ॥

निस्सन्देह यह क्षत्रिय के ग्रहण करने योग्य है। क्योकि मेरा साधु मन इसे चाहता है। क्योकि सन्दिग्ध वस्तुओ में सज्जनो के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती है। तथापि वे निश्चय करना आवश्यक समझते है। फिर भी इस अवसर पर छिपकर वयस्क कन्याओ की क्रीड़ा देखना, अपना असत्य परिचय देना, माता की प्रत्यावर्तन की आज्ञा को बहाने से टालकर माढव्य को भेज देना तथा कण्व के आने तक

आश्रम मे न रुकना, उनकी मानवोचित दुर्बलताएँ हैं। यदि ये न होती, तो दुष्यन्त देवता बनकर आश्चर्य के पात्र बन जाते और उनका चरित्र जड़ीभूत हो जाता। इस पतन मे ही महत्त्व निहित है।

अपनी परिणीता पत्नी को भी त्यागने के समय दुष्यन्त का चरित्र पतन की चरम सीमा तक पहुँच जाता है किन्तु दुर्वासा ऋषि का शाप उसे उज्ज्वलता प्रदान कर देता है। सचमुच उनका चरित्र इस घटना से निखर जाता है। जो दुष्यन्त आश्रम मे तपस्विनी शकुन्तला को देखकर अचानक आकृष्ट हो गये थे, वे इस समय धर्मपरायणता के साक्षात् अवतार हो जाते है। शकुन्तला के बहुत कुछ स्मृति हेतु कहने के अनन्तर दुष्यन्त का यह कथन उन्हे कितना ऊँचा उठा देता है :—"अभिस्तावदात्मकार्य्यप्रवर्त्तिनीभिर्मधुराभिरनृतवाग्भिराकृष्यन्ते विषयिणः।" यहाँ तक कि सामाजिक भी प्रतीहारी के समान स्वतः ही कहते लगता है—'अहो, धर्मविक्षिणो भर्त्तारः। ईदृशं नाम सुखोपनतं स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति।' वास्तव मे दुष्यन्त की चारित्रिक दृढता उन्हे सामाजिक के हृदयासन पर प्रतिष्ठित कर देती है।

स्वनामाङ्कित प्रणयचिह्नस्वरूपा मुद्रिका को देखते ही दुष्यन्त के हृदय की प्रेमलता लहलहाने लगती है और वे विरहोदधि मे मग्न होकर पश्चात्ताप की वाडवाग्नि मे प्रज्वलित होने लगते है। उनकी दशा इस प्रकार की हो जाती है :—

"रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते,
शय्योपान्तविवर्त्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।"

'रम्य वस्तु देखकर उससे द्वेष करते है। पहले की भाँति सेवको की सेवा स्वीकार नहीं करते। शय्या के किनारे पर पड़े हुए करवटें बदलते-बदलते रात्रि को व्यतीत करते हैं।' कभी-कभी मूर्च्छित भी हो जाते हैं। अपनी विरह-वेदना के कारण वसन्तोत्सव तक को बन्द करा देते हैं। उनकी यह दशा देखकर सामाजिक के हृदय का थोड़ा भी आक्रोश समाप्त

हो जाता है। तपन से तपकर प्रेम वासनात्मकता-कलुष को त्यागकर अन्तःकरण की पावनता से प्रसूत हो जाता है। इस वेदना और शोकातुरता मे भी दुष्यन्त अपने धर्म और कर्तव्य से च्युत नही होते। अपनी बड़ी रानी का उन्हे ध्यान रहता है तथा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण पालन करते है। सन्ततिहीन वणिक की मृत्यु का समाचार जानकर उसकी सम्पत्ति को राज-कोष मे स्वीकार न करके उसकी विधवा पत्नी के गर्भ को प्रदान करते है तथा राज्य भर मे यह घोषणा करा देते है :—

"येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति दुष्यताम् ॥"

राजा दुष्यन्त की यह घोषणा उनके हृदस्थ शोक और कर्तव्य भावना को अत्यन्त मार्मिकता से व्यञ्जित करती है।

अन्त में दुष्यन्त का चरित्र और भी महान् हो गया है। सर्वदमन को देखकर उनके हृदय का पिता वत्सलता से विभोर हो जाता है और शकुन्तला को देखकर पश्चात्ताप से पिघला हुआ नरेश उसके चरणो मे गिरकर अपनी महानता को मुखरित कर देता है। पावन-प्रेम जैसे सवाक् हो जाता है।

दुष्यन्त मे धीरललित नायक की भाँति कलानैपुण्य भी है। हंसपदिका का गीत उन्हे मुग्ध कर देता है और वे उसकी प्रशंसा करते है। चित्रकला में उन्हे सिद्धहस्तता प्राप्त है। विरह के दिवसो मे वे शकुन्तला का चित्र बनाकर ही आत्मसन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि दुष्यन्त के चरित्राङ्कन मे कवि-प्रवर कालिदास को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। दुर्बलताओ के कारण ही दुष्यन्त का चरित्र सबल हो गया है, इसमे सन्देह नही।

इस नाटक की नायिका शकुन्तला का चरित्राङ्कन करने मे कालिदास ने अपनी प्रतिभा के चरमोत्कर्ष को व्यक्त किया है। तपोवन की वनदेवी के सदृश अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला नैसर्गिक सुषमा की प्रतिमूर्ति है।

राजा दुष्यन्त ने 'अव्याज मनोहरं वपु' कहकर उसकी प्रशसा की है। वह प्रकृति की सहचरी है। प्रकृति के सुरम्य अञ्चल मे लालित-पालित होने के कारण उसके हृदय मे लता-वीरुधादि से भी सौहार्द उत्पन्न हो गया है। वह अपनी सखियो—प्रियम्वदा और अनुसुइया से ही भगिनीवत् व्यवहार नही करती अपितु माधवी लता मे भी उसका सहोदरा सा स्नेह है और वह उसे सहकार वृक्ष के साथ परिणीत करके आनन्द उपलब्धि की आकाक्षिणी है। वन के कोमल वृन्तो का सिचन करने मे उसे अतीव प्रसन्नता प्राप्त होती है। मृगछौनो से उसे सहज स्नेह है और वह दर्भाकुरो से आहत उनके मुखो की हिंगोट के तैल आदि से चिकित्सा करती है। ऋषि कण्व का भी उसे स्नेह प्राप्त है। इसी से वह अतिरिक्त सत्कार का उत्तरदायित्व उसी पर छोड़ जाते है। इस प्रकार वह तपोवन की तापसी होते हुए भी गार्हस्थ्य की भावना से भूषित है। शान्त वातावरण मे पालित होकर शान्ति की प्रतिभा होते हुए भी उसमे अवस्थाजनित चाञ्चल्य भी है, जिसका आभास हमे सिञ्चन के समय सखियो के साथ होनेवाले हास-परिहास से मिलता है।

यौवन ने उसके अंगो मे व्याप्त होकर विकास दिया है और स्वभाव मे लज्जा का आविर्भाव किया है। वह पद्मिनी नायिका प्रतीत होती है, तभी तो भ्रमर उसके अंग की सुगन्ध से प्रमत्त होकर उसका पीछा नही छोड़ता। वल्कल-परिधान से भी उसका नैसर्गिक सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा है, जिसका अंकन कालिदास ने इन शब्दो मे किया है:—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हि मांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥" १-२०॥

शैवाल से आच्छादित कमल भी सुन्दर होता है, चन्द्र की मलीन ज्योत्स्ना भी सौन्दर्यमयी होती है। उसी प्रकार यह कृशाङ्गी भी वल्कल

से और भी अधिक सुन्दरी प्रतीत होती है। मधुर आकृतिवालो का अलंकरण कौन सी वस्तु नही करती।

राजा दुष्यन्त के प्रभावपूर्ण सौन्दर्य, मधुर आलाप तथा भ्रमर से रक्षा करने की उपकृति भावना के कारण वह उसकी ओर आकर्शित होती है। उसके हृदय मे आकस्मिक एवं अप्रत्याशित रूप से अननुभूत प्रेम-विकार का आविर्भाव होता है, जिसके सम्बन्ध मे उसे स्वयं आश्चर्य होता है— 'कथमिदं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।' सखियो का परिहास उसकी प्रेम-भावना को और भी उद्दीप्त करता है। किन्तु वह उसे अपनी स्वाभाविक लज्जा के कारण नियन्त्रित कर लेती है। स्पष्टतः प्रेम को प्रकट न करते हुए भी वह साभिलाष नेत्रो से जाते समय कंटक लगने के बहाने से प्रियतम की ओर देखने लगती है। किन्तु विप्रलम्भावस्था मे जब मदन आक्रमण करके उसे सन्तप्त करता है, तो अपने को बलपूर्वक नियन्त्रित करने पर भी सखियो के आग्रह पर उसे अपना प्रेम प्रकट करना पड़ता है। सखियाँ 'दिष्ट्या ते अनुरूपे वरे अभिलाषः' शब्दो के द्वारा उसे सान्त्वना प्रदान करती है। फिर भी वह अपने प्रेम मे मर्यादित ही रहती है। सखियो के समक्ष प्रियतम को ललित पदो मे पत्र लिखते हुए भी उसके प्रकट होने पर लज्जा से विनत हो जाती है। एकान्त कुञ्ज मे भी राजा द्वारा आलिङ्गन के हेतु उद्यत होने पर वह उनको सचेत करते हुए कहती है—'पौरव रक्ष विनयम्।' इससे उसके आत्माभिमान और मर्यादित प्रेम का आभास मिलता है। वह अपने को गुरुजनो की आज्ञा बिना प्रेम के क्षेत्र मे स्वतन्त्र अनुभव नहीं करती। उनके प्रति उसके हृदय मे सम्मान और आदर की भावना है। वह अपनी अवस्था का अनुभव करते हुए अपने भाग्य को कोसती है और राजा द्वारा उसका कारण ज्ञात करने पर कहती है—'कथमिदानीं न उपालप्स्ये, यन्मामात्मनः अनीशां कृत्वा परगुणैर्लोभयति।' इन शब्दों मे कितनी वेदना, कितनी निराशा और कितनी विवशता भरी हुई है। अन्त मे प्रेम की विजय होती है। वह राजा के साथ गान्धर्व विवाह के

सूत्र मे बद्ध होकर गर्भ भी धारण करती है। कतिपय आलोचको ने इसे शकुन्तला का पतन कहा है, किन्तु कालिदास ने दोनो प्रेमियो के मध्य में सखियो का समावेश करके गान्धर्व विवाह की योजना की है। इस प्रकार औचित्य की रक्षा करते हुए भी शकुन्तला को पतन से बचा लिया है।

शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रथम प्रेम वास्तव मे अति उद्दाम और प्रबल है। उसमे यद्यपि शकुन्तला की विचारशक्ति सीमितावस्था मे सचेत रहती है तथापि वह प्रेम के समक्ष पराजित ही हो जाती है। कवि ने उसके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण अत्यन्त सफलता के साथ किया है। आरम्भ का आवेगजनित प्रेम विरह द्वारा चमक जाता है। प्रत्याख्यान उसे निर्मलता प्रदान करता है।

शकुन्तला कलावती भी है। उसकी पद-रचना काव्यकला की निपुणता का परिचय देती है। पति के प्रति उसके हृदय मे श्रद्धा और सम्मान की भावना है। जब दुष्यन्त उसे न पहचानकर समस्त नारी जाति पर दोष लगाते है, तो उसका नारीत्व जागरित हो उठता है और वह भी क्रोध से आविष्ट होकर कह उठती है—'को नाम अन्यो धर्म-कञ्चुकव्यपदेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति' वैसे सर्वत्र वह दुष्यन्त को दोष न देकर अपने भाग्य को ही दोष देती है तथा प्रत्याख्यान किये जाने पर भी उन्ही का चिन्तन करती रहती है।

मारीच ऋषि के आश्रम मे हमें उसके मातृत्व की झलक मिलती है, जहाँ उसके हृदय का समग्र प्रेम पुत्र के लिए उमड़ पड़ता है। पति से मिलन होने पर एक ओर उसका अभिमान जागरित होता है, दूसरी ओर प्रेममयी श्रद्धा। वह दुष्यन्त के प्रति कोई भी विरक्ति न प्रकट करके प्रेम से नत ही हो जाती है, किन्तु पुत्र द्वारा परिचय प्राप्त करने पर 'वत्स, ते भाग्यधेयानि पृच्छ' कहकर अपनी कथा, अपने अभिमान, अपने प्रेम, उपालम्भ आदि की एक साथ व्यञ्जना कर देती है। यही उसकी महानता है। इस प्रकार हम देखते है कि कालिदास ने शकुन्तला को स्नेह, सौहार्द, लज्जा, नारीत्व, शालीनता करुणा और

मातृत्व की साक्षात् प्रतिमा के रूप मे अंकित करके विश्व-साहित्य को एक पावन, उज्ज्वल और अनुपम चरित्र-रत्न प्रदान किया है।

कण्व तपस्या और साधना की प्रतिमूर्ति होने के साथ ही सद्गृहस्थ की भावनाओ से पूरित है और उनका हृदय वात्सल्य प्रेम का आगार है। उन्होने शकुन्तला की विदा के समय जो उपदेश दिया है, वह भारतीय संस्कृति और सामाजिक आदर्श का प्रतीक है, जिसके अनुसार नारी केवल भोग्या नही है अपितु गृहलक्ष्मी, सखी, सचिव एवं योग्य स्वामिनी हैं। गौतमी का चरित्र नीरव होते हुए भी पवित्रता से पूर्ण है, जिसमे शकुन्तला के निमित्त पुत्रीवत् स्नेह रक्षित है। एक प्रकार से वह आश्रम की कल्याणी है। शकुन्तला की सखियाँ प्रियम्वदा और अनुसुइया सहोदरावत् है। प्रियम्वदा परिहासप्रिय, विनोदशीला, मधुरालापिनी और आनन्दमयी है तो अनुसुइया गम्भीर स्वभावा, दूरदर्शिनी एवं व्यवहारपटु है। उसने राजा दुष्यन्त से जिन शब्दो मे उनका परिचय पूछा है, उससे उसकी शिष्टता और वाग्मिता का आभास मिलता है। दुष्यन्त के सखा माढव्य का चरित्र विशेष महत्त्व का नही है। उसकी अवतारणा कवि ने नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष की रक्षा के निमित्त ही की है। दुष्यन्त द्वारा माता की आज्ञा आने पर अपने स्थान पर उसे भेज देना या उसको पीड़ित करके मातलि द्वारा दुष्यन्त का भाव परिवर्तन कराना मात्र ही उसकी सृष्टि का उद्देश्य प्रतीत होता है। अन्य नाटको की भाँति इस नाटक का विदूषक भी विनोदी, भीरु और पेटू है। कालिदास के सभी पात्र सजीव है और कवि को उनके चित्राङ्कन मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

रस-परिपाक—महाकवि कालिदास रससिद्ध कवि है। अतः नाटक के तृतीय तत्त्व रस का भी शाकुन्तल मे अच्छा परिपाक हुआ है। शाकुन्तल का अगी रस शृंगार है। शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ दोनो ही पक्षो का सुन्दर परिपाक इस नाटक का प्राण है। नायक अथवा नायिका के हृदय मे प्रेम का आविर्भाव गुण श्रवण अथवा रूप दर्शन आदि से होता

है। यहाँ साक्षात् दर्शन ही प्रेमोदय का कारण है। राजा दुष्यन्त की गंभीर आकृति और मधुर भाषण से शकुन्तला के हृदय मे प्रेम-विकार उत्पन्न होता है और शकुन्तला के अपूर्व सौन्दर्य का अवलोकन करके राजा दुष्यन्त प्रेमाभिभूत होते है। कवि ने उसके नैसर्गिक सौन्दर्य का कितना मनोरम वर्णन किया है :—

"अधरः किसलयरागः, कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनपङ्क्षेषु सन्नद्धम्" ॥१-२२॥

'नवीन पल्लव के समान रक्तिम अधर है, कोमल तरु-शाखाओं सदृश भुजाये है तथा पुष्प के समान लुभानेवाला यौवन समस्त अंगो में व्याप्त है।' यह सौन्दर्य राजा के हृदय मे प्रेम का आविर्भाव करके इस प्रकार समा गया कि विरह-काल मे चित्र विनोद के लिए जब उसका चित्राङ्कन किया गया तो वह और भी खिल उठता है। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र खींचा है, उसके सौन्दर्य का अवलोकन कीजिए :—

"दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं, तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोभिन्नकान्तिद्रवम्" ॥६-१४॥

'विस्तृत प्रान्त भागो सहित विशाल नेत्र तथा विलास के कारण भ्रूलता सुशोभित है। दन्तो के मध्य से विकीर्ण होती हुई स्मिति की किरणोरूपी ज्योत्स्ना से अधर कान्तिमान है तथा पक्व बदरीफल के समान रक्तवर्ण ओष्ठ अति सुन्दर है। उसका यह चित्रस्थ मुख भी विभ्रम से सुशोभित होता हुआ बाते सी कर रहा है और उसकी कान्ति द्रवित होकर सुशोभित हो रही है।"

शकुन्तला का यह नैसर्गिक, अलंकारविहीन एवं अभूतपूर्व सौन्दर्य राजा दुष्यन्त को अभिभूत कर देता है और भ्रमर-बाधा से उत्पन्न उसकी

शारीरिक चेष्टाये उनकी रतिभावना को और उद्दीप्त कर देती है। राजा उनसे प्रभावित होकर कहता है :—

"लोलां दृष्टिमितस्ततो वितनुते सभ्रूलताविभ्रमाम्,
आभुग्नेन विनर्त्तिता वलियता मध्येन कम्रस्तनी।
हस्ताग्रं विधुनोति पल्लवनिभं शीत्कारभिन्नाधरा,
जातेयं भ्रमराभिलङ्घनभिया वाद्यैर्विना नर्त्तकी" ॥१-२६॥

'यह शोभन स्तनोवाली शकुन्तला भ्रूविलास के साथ अपनी चंचल दृष्टि को चतुर्दिक घुमा रही है, कुछ वक्र एवं त्रिवली-तरंगमय मध्य भाग से नृत्य सी कर रही है, पल्लव सदृश कोमल हाथो को झटका से दे रही है तथा अपने अधरोष्ठ को अलग-अलग करती हुई सीत्कार कर रही है। इससे प्रतीत होता है कि भ्रमर के काटने के भय से बिना वाद्यो के ही नर्तकी बन गई है।'

दुष्यन्त को प्रेमविभोर करने के निमित्त शकुन्तला को विलास रहित अकृत्रिम किन्तु मधुर एवं आकर्षक चेष्टाये ही पर्याप्त थी। कवि ने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रेमोदय का चित्रण किया है। इसी भॉति शकुन्तला का आकर्षण भी क्रमशः विस्तार प्राप्त करता है और सखियो का परिहास उसके प्रेम को उद्दीप्त करता है। दुष्यन्त के समीप से जाते समय उसकी चेष्टाऍ हाव के अन्तर्गत आयेंगी, जब कि वह कुश के पैर मे लगने तथा वस्त्र के कॉटो मे उलझने के व्याज से साभिलाष नेत्रो से दुष्यन्त की ओर देखती है। उसकी ये चेष्टाएँ केवल संयोग के समय ही उद्दीपन का कार्य नही करतीं अपितु वियोग के समय दुष्यन्त के स्मृति-पटल पर आविर्भूत होकर उनकी विरह ज्वाला को और भी उद्दीप्त कर देती है। दुष्यन्त उनका स्मरण करते हुए इस प्रकार कहते है :—

"दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्" ॥२-१२॥

दुष्यन्त और शकुन्तला जब एक दूसरे के प्रति पूर्णतः आकर्षित हो जाते है और उनके हृदय प्रेमवृन्त के आलबाल हो जाते है, तो कालिदास ने उनका मिलन करा दिया है और उनके विलास का मधुर वर्णन करके संभोग शृंगार की स्रोतस्विनी प्रवाहित की है। शकुन्तला का कुञ्ज से एक बार बाहर जाना पुनः उत्कण्ठित और दर्शनोत्सुक हृदय लेकर मृणालवलय को लेने के व्याज से आना और दुष्यन्त द्वारा अपने हाथो से उसको मृणालवलय, पुष्पहार आदि पहनाना और उसके नेत्रो को स्वच्छ करना आदि चेष्टाओ के वर्णन मे शृंगार की सरसता और कालिदास की सहृदयता की मधुर व्यञ्जना हुई है।

विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन करके कवि ने गुरुजनो की आज्ञा के बिना सहसा किये गये वासनामय प्रेम को दाम्पत्य प्रेम की पावनता प्रदान की है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान और दुष्यन्त के पश्चात्ताप से दोनो का ही कलुष धुल जाता है और भरत के रूप मे उस प्रेम का फल पाकर दोनो ही धन्य हो जाते है और दाम्पत्य जीवन की सरस सफलता के उल्लास मे सामाजिक भी मग्न हो जाता है। कालिदास ने शकुन्तला के विरह का वर्णन समास शैली मे किया है। सूक्ष्म शब्दो मे विरह की महान् वेदना को भर देने मे ही कवि का कौशल है। प्रियतम के ध्यान मे मग्ना शकुन्तला को ऋषि दुर्वासा के आतिथ्य और शाप आदि का किञ्चित् मात्र भी भान नहीं है। इसी से उसकी विरह-वेदना का अनुमान किया जा सकता है। विरह के समय समस्त शीतलताप्रदायिका वस्तुएँ पीड़ाजनक होती है। विरहिणी को चन्द्रमा की किरणें अग्नि बरसाती प्रतीत होती है, तभी तो शकुन्तला कहती है :—

"तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोः
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः
त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारी करोषि ॥३-४॥"

'हे कामदेव, तुम्हारा कुसुमायुध होना तथा चन्द्रमा को शीतरश्मि

कहा जाना, ये दोनो बातें मुझ जैसो के लिए यथार्थ नही है। क्योंकि चन्द्रमा अपनी हिममयी किरणो से अग्नि की वर्षा करता है और तुम अपने पुष्प बाणों को वज्र की भाँति तीक्ष्ण बना रहे हो।'

राजा दुष्यन्त की विरह-वेदना इससे भी तीव्र है। उसमे विरह-ताप के साथ निरपराध पत्नी को अज्ञानावस्था मे त्यागने का परिताप भी सम्मिलित है। इसी से राजा की विरह-वेदना उन्माद की अवस्था तक पहुँच जाती है। वह चित्रस्थ शकुन्तला की भ्रमर-बाधा को वास्तविक समझकर भ्रमर को मारने के निमित्त झपट पड़ता है, तब माढव्य उसे सचेत करता है। वैसे भी दुष्यन्त की दशा विरह के कारण इस प्रकार की है :—

"प्रत्यादिष्टविशेषमंडनविधिर्वामप्रकोष्ठे श्लथं
विभ्रत् काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासापरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणैरात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते" ॥६-५॥

'राजा ने विशेष प्रकार के अलंकार धारण करना बन्द कर दिया है, केवल बाईं भुजा मे एक ढीला-ढाला स्वर्ण वलय पड़ा है, निरन्तर ठण्डी श्वास लेने से अधर मलिन पड़ गये है और चिन्तावश जागते रहने से नेत्र लाल हो गये है। इस प्रकार क्षीण होने पर भी अपने तेज के गुणो के कारण एक विशुद्ध मणि की भाँति शोक लक्षित नही होता।' किस कौशल से कवि ने राजा दुष्यन्त की विरह-व्यथा और नृपोचित मर्यादा एवं तेजस्विता की एक साथ व्यंजना की है। इस प्रकार कालिदास का सम्भोग एवं विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन अत्यन्त सफल हुआ है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि कालिदास वासनात्मक प्रेम मे विश्वास नही करते, वे पवित्र दाम्पत्य प्रेम के समर्थक है, जिसकी परिणति सन्तानोत्पत्ति मे होती है। कालिदास उस प्रेम के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते है, जो दाम्पत्य जीवन मे सरसता और आनन्द की ही

सृष्टि नही करता अपितु मंगल का भी विधान करता है और ऐसा प्रेम पूर्व जन्म के संस्कारो का ही परिणाम होता है :—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" ।।५-६।।

श्रृंगार रस के अनन्तर द्वितीय स्थान इस नाटक मे करुण रस को दिया गया है। शाकुन्तल का चतुर्थ अंक करुण रस से ओत-प्रोत है। लताओ की भगिनी, मृगछौनो की रक्षिका एवं आश्रम के पशु-पक्षियो की सहेली शकुन्तला उन्हे सदैव के लिए त्यागकर पतिगृह जा रही है। इसलिए समस्त तपोवन मे करुणा की छाया सी भासित होती है। अनुसुइया और प्रियम्वदा के हृदय मे प्रसन्नता, चिन्ता और वेदना का संगम हो रहा है, जिससे उन्हे महान् पीड़ा है और ऋषि कण्व का संचित वात्सल्य आज उमड़ आया है और वे भी शकुन्तला के वियोग की सम्भावना से व्यथित हो उठते है :—

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठस्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्य मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः" ।।४-८।।

'आज शकुन्तला जायगी, इसी भावना से जनित विषाद ने हृदय पर अधिकार कर लिया है। कण्ठ अवरुद्ध हो गया है, अश्रुओ के प्रवाह और चिन्ता से दृष्टि मन्द पड़ गई है। स्नेह के कारण जब मुझ वनवासी की यह अवस्था है तो पुत्री के नवीन वियोग-दुख से गृहस्थ क्यो न दुखी होते होगे।'

हास्य की व्यंजना कवि ने माढव्य—विदूषक—की चेष्टाओ एवं उक्तियो द्वारा की है। कालिदास का हास्य सर्वत्र शिष्ट एवं परिष्कृत रह

है। द्वितीय अंक मे जब दुष्यन्त शकुन्तला के सौंदर्य का वर्णन करता है तो विदूषक की यह उक्ति कितनी परिहास-जनक है—'तेन हि लघु-लघु गच्छतु भवान्, मा भावत सा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते निपतिष्यति' (तो आप शीघ्रातिशीघ्र वहाँ पहुँच जाइये, कही वह इंगुदीतैल से केशो को चिकना करनेवाले किसी तपस्वी के हाथ न पड़ जाय।) इसी प्रकार जब प्रच्छन्न रूप से मातलि विदूषक को दबोच लेता है, उस समय भी उसकी उक्तियो से करुणा या भय की अपेक्षा हास्य की सृष्टि ही अधिक होती है और जब षष्ठ अंक मे दुष्यन्त विरह से व्यथित होकर आम्र-मजरी को मदन बाण कहते है तो बुद्धिहीन विदूषक लाठी लेकर उनका नाश करने के लिए दौड पड़ता है। इस अवसर पर दुखी राजा भी उसकी इस चेष्टा से हँसे बिना नही रह सकता। समवयस्का सखियो मे जो हास-परिहास होता रहता है, उसकी व्यंजना भी कवि ने शकुन्तला से प्रियम्वदा और अनुसुइया द्वारा परिहास कराके की है। जब शकुन्तला अनुसुइया द्वारा अपनी कंचुकी ढीली कराने के लिए कहकर प्रियम्वदा पर कड़ी बाँधने का आरोप लगाती है तो प्रियम्वदा इन शब्दो मे उसको उत्तर देती है—"अत्र तावत् पयोधर-विस्तारहेतुकम् आत्मनो यौवनारम्भम् उपालभस्व, मा किमुपालभसे।"

शाकुन्तल मे वात्सल्य रस का आनन्द भी अन्तिम अंक मे प्राप्त होता है। सिंह-शावको से क्रीड़ा करते हुए सर्वदमन को देखकर दुष्यन्त के हृदय मे वात्सल्य हिलोरें लेने लगता है। वे अकारण हँसी से यदा-कदा दिखाई देनेवाले नवीन दाँतो से युक्त मुखवाले, तोतली भाषा मे अव्यक्त मनोहर वाणी का उच्चारण करनेवाले शिशु को गोद मे लेकर अपने वस्त्रो को धूल से दूषित करना सौभाग्य का विषय मानते है :—

"आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्करजसा कलुषीभवन्ति ॥७-१७॥

प्रथम अंक मे दुष्यन्त के बाण से भयभीत मृग के भागने के वर्णन मे भयानक रस, शकुन्तला के आकस्मिक रूप से लुप्त होने तथा मातलि

द्वारा विदूषक को पकड़ने के वर्णन मे अद्‌भुत् रस और राजा दुष्यन्त द्वारा मातलि को छुड़ाने के प्रयत्न मे वीर रस का परिपाक हुआ है। राजा द्वारा मृत वणिक् की सम्पत्ति का गर्भ को दान धर्मवीर का उदाहरण है। इस प्रकार अन्य रस अग रूप से ही आये है।

प्रकृति-वर्णन—'अभिज्ञान शाकुन्तल' की रंगभूमि प्रकृति का विशाल क्रोड़ है, जिसमे कवि कालिदास ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन प्रदर्शित किया है। कालिदास ने नाटक के आरम्भ मे ही अपने अनन्य प्रकृति-प्रेम का परिचय दिया है। नान्दी मे उन्होने शिव की उन अष्ट मूर्तियो की वन्दना की है, जो प्रकृतिमय है।

इस नाटक मे प्रकृति अपने स्वरूप मे पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी एक सजीव एवं चेतन प्राणी के रूप मे चित्रित की गई है। वह शकुन्तला की जीवन-विधात्री एवं सहचरी सभी कुछ है। शकुन्तला को उसने पावन निर्मलता एवं स्निग्ध मधुरता प्रदान की है। प्रकृति के विभिन्न उपादानो ने उसके विभिन्न अंगो को सुषमा से सज्जित किया है। इसी से कवि ने शकुन्तला के रूप-वर्णन मे प्रकृति से ही उपमान चुने है। यही अलंकार रूप मे प्रकृति-वर्णन कहलाता है।

प्रकृति के वर्णन द्वारा कवि ने बिम्ब ग्रहण कराते हुए भावी घटनाओ की ओर भी संकेत किया है। देखिये :—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वतीयं दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनेन दुःखानि नूनमतिमात्रदुरुद्वहानि" ॥४-३॥

'चन्द्रमा के अस्त हो जाने से वही कुमुदिनी पहले की भाँति नेत्रो को आनन्दित नही करती, उसका सौन्दर्य स्मरण की वस्तु हो गया है। क्योकि प्रियतम का प्रवासजनित दुःख निश्चय ही असह्य होता है।' यहाँ प्रातःकाल होने का आभास दिलाने के साथ कवि ने शकुन्तला की भावी विरह-वेदना की भी व्यंजना की है।

प्रकृति का कवि ने सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया है और उसका

वर्णन भी इस प्रकार किया है कि वह दृश्य नेत्रो के समक्ष ख्रचित हो जाता है। प्रातःकाल जगकर हरिण किस प्रकार अपने अंगो को बढाकर खड़ा होना है, इसका स्वाभाविक चित्र अंकित किया है। राजा दुष्यन्त द्वारा बाण-सन्धान करने पर भयभीत मृग के भागने का कितना स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है :—

"ग्रीवाभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि
पश्चार्द्धेन प्रविष्ट. शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि. कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्या प्रयाति" ॥१-७॥

'देखो, यह हिरन किस सुन्दर ढग से अपनी गर्दन मोड़-मोड़कर पीछे वेग से आते हुए रथ को, बार-बार देखता जा रहा है। बाण चुभने के भय से अपने शरीर के पिछले भाग को समेटकर मानो अगले भाग मे घुसा जा रहा है। थकावट के कारण थकने से इसके खुले मुख से आधी चबाई हुई घास गिरती जा रही है। इसकी लम्बी-लम्बी और ऊँची छलाँगो से प्रतीत होता है कि यह पवन मे अधिक और भूमि पर कम चल रहा है।'

जैसा कि कहा जा चुका है प्रकृति शकुन्तला के जीवन मे परिव्याप्त हो रही है। इसलिए शकुन्तला की विदाई के अवसर पर जहाँ वनदेवी उसके निमित्त वस्त्राभूषण समर्पित करती है, वहाँ उसके वियोग की कथा से समस्त वनस्थली सौंदर्यविहीन होकर करुणा का आवास 'बन जाती है। ऋषि कण्व भी प्रकृति और शकुन्तला के पारस्परिक सौहार्द से परिचित है। इसलिए वे भी विदाई के समय तपोवन के पादपो को सम्बोधित करते हुए कहते है :—

"पातुं न प्रथम व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आदौ वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्" ॥४-११॥

'जो तुमको पहले सींचे बिना स्वयं जल भी ग्रहण नही करती थी, जो शृंगारप्रिय होने पर भी स्नेह के कारण तुम्हारे कोपलो को नही तोड़ती थी, प्रारम्भ मे पुष्प निकलते समय जो उत्सव मनाया करती थी, वह शकुन्तला पतिगृह जा रही है, तुम सभी उसे आज्ञा प्रदान करो।' अचेतन प्रकृति मे चेतन भावना का आरोप कवि कालिदास की कला का निदर्शन है। शकुन्तला के वियोग के कारण समस्त तपोवन चेतन प्राणियो के समान ही व्यथित हो रहा है, जिससे शकुन्तला के प्रति उसकी पावन आत्मीयता का आभास मिलता है '—

"उद्गीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्त्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लता ॥" ४-१४॥

'हिरनी अपने मुख से कुश का ग्रास उगल रही है, मयूरी ने नृत्य त्याग दिया है और लताएँ पीले-पीले पत्ते गिराकर मानो अश्रु प्रवाहित कर रही है।' शकुन्तला भी जाते समय तपोवन की प्रकृति के प्रति अपने स्नेह को व्यक्त कर रही है। वह अपनी नवज्योत्स्ना नामक लता भगिनी का आलिगन करती है, आसन्नप्रसवा मृगी के प्रसव का संवाद भेजने के लिए पिता से आग्रह करती है। आश्रम का मृगछौना उसका वस्त्र पकड़कर रोकने की चेष्टा करता है। वास्तव मे प्रकृति की मूक करुणा कण्व, प्रियम्वदा और अनुसुइया की करुणा से अधिक मर्मस्पर्शी और हृदयद्रावक है।

तत्कालीन अवस्था का वर्णन—कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। जिस युग मे कवि का अवतरण होता है, उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है और वह युग उसकी रचनाओ मे से झाँकता हुआ 'प्रतिभासित होता है। कालिदास भी इसके अपवाद नही है। उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का परिचय मिलता है।

उस समय राजा निरंकुश होते हुए भी पुत्रवत् प्रजा का पालन करता था (प्रजाः प्रजाः स्वाइव तन्त्रयित्वा)। उसे अपने चरित्र का विशेष ध्यान

रहता था, क्योकि प्रजा राजा का अनुकरण करती थी। दुष्यन्त की प्रजा मे निम्न वर्ग मे भी कोई कुमार्गगामी नही था। भयग्रस्त मनुष्यो की रक्षा करना राजा का कर्तव्य होता था और राजा लोग ऋषि-मुनियो का विशेष सम्मान करते थे तथा उनके यज्ञादि की रक्षा के निमित्त सदैव कटिबद्ध रहते थे। राजा स्वयं ही दरबार मे बैठकर राज्य के समस्त अभियोगो पर विचार करता था और अस्वस्थता आदि के कारण यदि दरबार मे जाना सम्भव नही होता था तो वह मन्त्रियो द्वारा अभियोगो का विवरण जानकर उस पर अपना मत व्यक्त करता था। इसीलिए उसी का निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता था। न्याय-व्यवस्था मे सुचारुता होते हुए भी दण्ड-विधान कड़ा था। रत्नो की चोरी के लिए सम्भवतः मृत्युदण्ड दिया जाता था। तभी तो राजकर्मचारी धीवर को मृत्युदंड की धमकी देते है। निरपराध सिद्ध होने पर बन्दीगण राजकर्मचारियो को उपहार भी देते थे। धीवर अपनी मुक्ति के अवसर पर राजकर्मचारियो को मुद्राये प्रदान करता है। किसी-किसी आलोचक ने रिश्वत के प्रचलन का उल्लेख किया है। किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल की इस घटना से उत्कोच वृत्ति की सिद्धि नहीं होती। हॉ, यह अवश्य सिद्ध होता है कि उस समय राज कर्मचारीगण मदिरापान अवश्य करते थे (भट्टारकः इतः अर्द्धं युष्माकमपि सुरामूल्य भवतु)। किसी व्यक्ति के निस्सन्तान मरने पर उसका धन राजकोष मे चला जाता था। किन्तु राजा दुष्यन्त धनी व्यापारी की मृत्यु के बाद उसके धन को व्यापारी की विधवा स्त्री के गर्भस्थ बालक को प्रदान कर देते है। उस समय सम्भवतः स्त्रियो को पति के बाद उसकी सम्पत्ति की अधिकारिणी नही माना जाता था। राजा राज्य की सुव्यवस्था के व्यय के निमित्त प्रजा की आय का छठवॉ भाग राजस्व के रूप मे लेता था, जिसे 'षष्ठाश वृत्ति' कहा जाता है।

उस समय देश की सामाजिक अवस्था भी उन्नत प्रतीत होती है। धनी वर्ग मे बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। समुद्री व्यापारी अपने बाद कई विधवा पत्नियाँ छोड़ गया था और राजा दुष्यन्त के भी कई रानियॉ

थी। उस समय गांधर्व विवाह का प्रचलन था, किन्तु वह सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। इसी से कालिदास ने कहा है :—

"अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्" ॥ ५-२७ ॥

समाज मे स्त्रियों का सम्मान था। वे शिक्षिता भी होती थी। प्रियम्वदा और अनुसुइया दुष्यन्त की नामाङ्कित मुद्रिका से उसे पहचान लेती है और शकुन्तला काव्यमय पत्र दुष्यन्त को लिखती है। इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियो को ललित कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी। हंसपदिका का सगीत इसका प्रमाण है। शकुन्तला द्वारा मृग-शिशु घाव पर इंगुदी का तैल लगाने के वर्णन से यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियो को प्राथमिक चिकित्सा की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी, स्त्रियो मे साधारणतया पर्दे की प्रथा न थी, किन्तु नववधुएँ पर्दा करती थी। शकुन्तला दुष्यन्त के पास अवगुण्ठनवती होकर जाती है। स्त्रियो को पति के साथ गुरुजनो के समक्ष जाने मे लज्जा का अनुभव होता था। शकुन्तला दुष्यन्त के साथ ऋषि मारीच के समक्ष जाने मे लजाती है। उस समय स्त्री पर पति का पूर्णाधिकार होता था, वह उसकी सम्पत्ति थी। (उपयन्तुर्हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी)।

उस समय वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण यज्ञयागादि एवं अध्ययन-अध्यापन के कार्य को करते थे। क्षत्रिय प्रजा की रक्षा में लीन थे और वैश्य सुदूर देशो से समुद्र-मार्ग से भी व्यापार करते थे और शूद्र विविध कार्यो से आजीविका प्राप्त करते थे। लोग गृहस्थाश्रम के बाद वाणप्रस्थ ग्रहण करते थे।

धार्मिक दशा भी उस समय अच्छी थी। ऋषि लोग धर्म के प्रणेता थे। स्त्रियो को भी तपस्या का अधिकार था। गौतमी इसी प्रकार की तपस्विनी है। कुग्रहो की शान्ति के निमित्त तीर्थयात्रा आदि का विधान स्वीकार किया गया है। शकुन आदि मे जनता का विश्वास था। राजा दुष्यन्त अपनी दाहिनी बाहु के फड़कने से भावी मंगल की सम्भावना

करने लगते है। उस समय ऋषियो के आश्रम शान्ति, पावनता और आध्यात्मिकता के प्रतीक समझे जाते थे।

भाषा और शैली—'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदास की सरल, प्रवाहपूर्ण, प्रसादमयी, परिष्कृत एवं परमार्जित भाषा का निदर्शन है। कवि ने वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है। इसी से लम्बे-लम्बे समासो का आधिक्य नही है। किन्तु शैली मे सामासिकता है। कवि की प्रतिभा इतनी अधिक प्रौढ है कि वह संक्षिप्त शब्दो मे भाव-गाभीर्य भर देता है। कवि की सूक्ष्म एवं मार्मिक अभिव्यञ्जना-शक्ति का परिचय इस नाटक मे सर्वत्र मिलता है। दुष्यन्त के हृदय मे शकुन्तला को देखकर जो प्रेम-भावना उदित होती है, उसे केवल एक वाक्य मे ही कुशलता के साथ कवि ने व्यञ्जित किया है—'अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणं'। इसी प्रकार दुष्यन्त के चले जाने के अनन्तर शकुन्तला के विरह-वर्णन मे विलाप-कलाप का विस्तृत एवं अतिरञ्जित वर्णन न करके शकुन्तला की आत्म-विस्मृति और दुर्वासा-शाप द्वारा उसकी वेदना का आभास दिलाया है। सर्वत्र ही कवि ने थोडे से शब्दो में गभीरतम भावो को प्रकट करके हृदय को स्पर्श किया है।

कालिदास की भाषा की यह भी विशेषता है कि वह पात्रानुकूल है। संस्कृत नाटको मे स्त्री पात्रों एवं शूद्र आदि के लिए तो प्राकृत का प्रयोग करना आचार्यो ने निर्दिष्ट ही कर दिया है, जिसके अनुसार कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में सर्वत्र शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है, केवल षष्ठ अंक के प्रवेशक मे मागधी प्राकृत को अपनाया है, लेकिन कालिदास ने तो राजा, ऋषि एवं विदूषक आदि की भाषा मे शब्दा-वली उनकी प्रकृति के अनुकूल ही प्रयुक्त की है। ऋषि कण्व गान्धर्व विवाह की स्वीकृति प्रदान करते हुए शकुन्तला से कहते हैं—'दिष्टया धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता'—भाग्य से धूम से आकुल दृष्टिवाले यजमान की आहुति अग्नि में ही पड़ी। इससे ऋषि की तपस्याजनित पावनता ही व्यंजित होती

है। इसी प्रकार विदूषक की उक्तियाँ उसके पेटूपन की सूचिका है। यथा—"भोः यथा पिण्डीखर्ज्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिडया श्रद्धा भवति, तथा अन्त.पुरस्त्रीरत्नपरिभोगिनो भवत इयं प्रार्थना"—जैसे कोई व्यक्ति पके हुए खजूर के मीठे फलो को त्याग कर इमली चखने की इच्छा प्रकट करे उसी प्रकार आप भी अन्तःपुर की सुन्दरी रानियो का उपभोग करके इस मुनिकन्या की इच्छा करते है। राजा दुष्यन्त का परिचय जानने के लिए अनुसुइया ने उनसे जो प्रश्न किये है, उनसे वार्तालाप की शिष्टता के साथ प्रार्थना-संस्कृति की उन्नत दशा का भी परिचय मिलता है—"आर्य्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मामालापयति। कतरो राजर्षि-वंशः अलंक्रियते आर्य्येण? कतमो वा देशो विरहपर्य्युत्सुकः क्रियते? किं निमित्तं वा आर्येण सुकुमारेण तपोवनगमनपरिश्रमे आत्मा उपनीतः?" इससे कालिदास की भाषा की पात्रानुकूलता सिद्ध होती है।

कालिदास की शैली की विशेषता यह भी है कि उन्होने यत्र-तत्र ऐसे वाक्यो का प्रयोग किया है, जो अपने मे जीवन के सत्यो को समाहित किये रहते है। इसी से कालिदास के ऐसे वाक्य आदर्श बन गये है। यथा—'भवितव्याना द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र', 'किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम्', 'सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः', 'लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्', 'न रत्न-मन्विष्यति मृग्यते हि तत्', 'अत्यारूढिर्भवति महतामप्यभ्रंशनिष्ठा', 'स्वाधीनकुशला, सिद्धिमंतः', रन्ध्रोपपातिनो अनर्था' इत्यादि। इसके साथ ही कही-कहीं कालिदास ने दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास एवं अप्रस्तुत अलंकारो का प्रयोग करके भावोत्कर्ष किया है। एक दो उदाहरणो का लोभ सवरण नही किया जा सकता। यथा—'आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्,' 'एष नाम अनुग्रहो यत्शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः' आदि। कालिदास की भाषा मे ध्वनिमयता भी पाई जाती है। प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन करते करते वे किस प्रकार भावी घटनाओ की सूचना दे देते है, यह तो प्रकृति-वर्णन के प्रसंग मे कहा जा चुका है। अन्य प्रकार से भी

भावी घटनाओ की सूचना दी है। यथा, सूत्रधार की यह उक्ति 'आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया तत्' शकुन्तला को दुष्यन्त द्वारा विस्मृत करने का संकेत मिलता है। इसी प्रकार नाटक की प्रत्येक घटना का पूर्वाभास कवि ने अपनी ध्वन्यात्मक शैली द्वारा दिलाया है।

कालिदास ने अलंकारो का प्रयोग भाव-सौन्दर्य की वृद्धि एवं रस-परिपाक के निमित्त किया है और वे उनकी भाषा मे स्वभावतः ही आ गये है, प्रयत्नज नही है। दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा भाव-सौन्दर्य मे किस प्रकार वृद्धि की है यह कहा जा चुका है। किन्तु उपमा पर कालिदास का सर्वाधिकार है। उपमा-सौन्दर्य के कारण ही कालिदास 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से विख्यात है और उनकी उपमा को ही लक्षित करके 'उपमा कालिदासस्य' का आभाणक प्रसिद्ध है। इस नाटक मे भी उनकी उपमा द्रष्टव्य है। देखिये :—

"त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे।
दिवाऽवसानेच्छायेव पुरो मूलं वनस्पतेः" ॥३-२६॥

'तुम दूर जाती हुई भी मेरे हृदय को नही त्यागती जैसे दिन छिपने के समयवाली छाया वनस्पति के मूल मे ही रहती है।' विरोधाभास से पुष्ट यह उपमा कितनी सुन्दर है? और किस प्रकार दुष्यन्त के गूढ प्रेम का परिचय देती है? कठोर वल्कल में भी शकुन्तला का सौन्दर्य कितना आकर्षक लगता है, इसका आभास इस सुन्दर उपमा द्वारा इस प्रकार दिया गया है :—

"कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं कान्तरूपं
न मनसि रुचिभङ्गं स्वल्पमप्यादधाति।
विकचसरसिजायाः स्तोकनिर्मुक्तकण्ठं
निजमिव कमलिन्याः कर्कशं वृन्तजालम्" ॥१-२१॥

'इस मृगनयनी के लिए वल्कल यद्यपि कठोर है, तथापि सुन्दर

ही प्रतीत होता है और किञ्चित् मात्र भी मन की रुचि भङ्ग नही करता। जैसे कि जल से थोड़ा निकला हुआ विकसित कमलिनी का कर्कश वृन्त असुन्दर नही लगता।' कालिदास ने शाकुन्तल मे मूर्त के लिए अमूर्त उपमा का प्रयोग भी किया है, जिसे हिन्दी के आधुनिक छायावादी कवियो की विशेषता बताया गया है। ऋषि कण्व शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त को वरण करने का अनुमोदन करते हुए कहते है—"सुशिष्यपरिदत्तेव विद्या अशोचनीयासि मे संवृत्ता।" अच्छे शिष्य को दी गई विद्या के समान तू मेरे लिए निश्चिन्तता का कारण हुई है। उपमा के अतिरिक्त अन्य अलंकारो का प्रयोग भी अत्यन्त सुन्दर हुआ है। राजा के बाण से भयभीत होकर भागते हुए मृग के वर्णन मे स्वभावोक्ति की मनोरम छटा है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। इसी प्रकार रथ के अश्वो की द्रुतगति, जागते हुए मृग की अवस्था और तपोवन आदि के वर्णन मे स्वभावोक्ति अलकार का प्रयोग हुआ है।

कालिदास के छन्दो मे गतिमयता, संगीतात्मक मधुरता, सरसतामय प्रवाह और शब्दावली की सुकुमारता है। कवि कालिदास विशेष रूप से कोमल भावनाओ के कवि है। इसीलिए उनका छन्द-विधान भी मृदुलता से पूर्ण है।

इन्ही विशेषताओ के कारण कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल विश्व साहित्य के अमूल्य रत्नो मे गिना जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ही नही, अपितु पश्चिमी विद्वानो ने भी इस नाटक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जर्मन के प्रसिद्ध कवि गैटे ने कालिदास के इस नाटक की प्रशंसा करते हुए ठीक ही लिखा है :—

"Wouldst thou the young year's blossoms and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed, enraptured feasted, fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself in one
sole name combine?
I name thee, O Shakuntala and all at once is said.

जिसका संस्कृतानुवाद इस प्रकार किया गया है :—

"वासन्त कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यमनसोरसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्" ॥

मृच्छकटिक

संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी प्रकरण मृच्छकटिक के रचयिता के सम्बन्ध मे मतैक्य नही है। प्रकरण की प्रस्तावना के अनुसार इसके रचयिता द्विजश्रेष्ठ शूद्रक नरेश थे। जिनकी गति गज सम, नयन चकोर सदृश, मुख चन्द्रमा के समान था, जो सर्वांगसुन्दर होने के साथ ही ऋग्वेद, सामवेद, गणित, हस्ति-शिक्षा, व्यापार-शास्त्र एवं नृत्यगीतादि चौसठ कलाओ मे पारंगत थे। उन्होने १० दिन अधिक सौ वर्ष की आयु पाकर अपने पुत्र को राज्य देकर अग्नि मे प्रवेश किया (प्रथम अंक ३, ४, ५)। प्रस्तावना के इस परिचय पर विद्वानो को सन्तोष नही होता तथा यह प्रस्तावना ही किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा लिखित प्रतीत होती है। क्योकि कोई भी कवि अपनी मृत्यु का उल्लेख पहले ही कैसे कर सकता है ? इसके अतिरिक्त शूद्रक का वर्णन परोक्ष भूते लिट् के द्वारा किया गया है तथा परिचय सम्बन्धी इन श्लोको मे ऐतिह्यसूचक 'किल' अव्यय का भी प्रयोग हुआ है। (एतत्कविः किल, किल शूद्रको वभूव, चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः)। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तावना के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि ये श्लोक प्रक्षिप्त है, तो क्या इस प्रकरण के रचयिता शूद्रक नही है ? कतिपय विद्वान् तो शूद्रक की स्थिति मे ही सन्देह करते है। संस्कृत मे शूद्रक का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और उल्लेख्य रहा है। 'स्कन्दपुराण' मे शूद्रक का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। तदुपरान्त 'वैताल पंच-विंशति' के अनुसार शूद्रक वर्धमान के, 'कथा-सरित्सागर' के अनुसार शोभावती के 'कादम्बरी' के अनुसार विदिशा के राजा थे। 'हर्ष-चरित्र' के अनुसार शूद्रक चकोर के राजा चन्द्रकेतु के शत्रु थे। 'दशकुमार-चरित', 'राजतरंगिणी' आदि ग्रंथो मे भी शूद्रक का

उल्लेख मिलता है। प्रश्न यह है कि इनमे से 'मृच्छकटिक' का रचयिता कौन शूद्रक है? 'स्कन्दपुराण' मे जिस शूद्रक का उल्लेख है, उसे ही आन्ध्रवंशीय प्रथम नरेश सिमुक से अभिन्न मानकर 'मृच्छकटिक' का कर्ता माना जाता है। डा० स्मिथ के अनुसार सिमुक का काल २४० ई० पूर्व है। यदि इस मत को सत्य मान लिया जाय तो 'मृच्छकटिक' की रचना कालिदास एवं भास से भी पूर्व हुई सिद्ध होती है। किन्तु प्रकरण के कला-विधान एवं भाषा पर ध्यान देने से यह रचना इतनी प्राचीन नही मानी जा सकती। इसी कारण यह मत अमान्य घोषित हो चुका है। प्रो स्टेन कोनो के अनुसार आभीरवंश के राजा शिवदत्त (४२८ ई०) का ही दूसरा नाम शूद्रक है और ये ही इस प्रकरण के प्रणेता है। किन्तु वास्तविक नाम के स्थान पर शूद्रक जैसा नाम अपनाने की कल्पना सारहीन प्रतीत होती है। स्वर्गीय प चन्द्रबली पाण्डेय ने विभिन्न शूद्रक-सम्बन्धिनी कथाओ का अनुशीलन करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आन्ध्रवंशीय वासिष्ठि-पुत्र पुलुमावि ही शूद्रक है तथा इस ग्रंथ के रचयिता है। परन्तु उनके तर्क भी अकाट्य नही प्रतीत होते, वे कल्पना पर आधारित है। डा० देवस्थली किसी भी विवाद मे न पड़कर यह मानते है कि शूद्रक कोई भी रहा हो, पर वह इस प्रकरण का रचयिता अवश्य है। जब तक इसका प्रणेता कोई अन्य सिद्ध न हो जाय, तब तक यही स्वीकार्य है।

कतिपय विद्वान् मृच्छकटिक से शूद्रक का कोई सम्बन्ध नहीं मानते और इसे किसी अन्य की रचना मानते है। डा० पिशेल ने इसे आचार्य दण्डी की कृति माना है। दण्डी की तीन रचनाये कही जाती है (त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च) जिनमे एक काव्यादर्श, दूसरी दशकुमार-चरित और तीसरी 'मृच्छकटिक'। यदि दण्डी इसके कर्ता है, तो उन्होने अपना वास्तविक नाम न देकर शूद्रक क्यो दिया है? यह एक शंका है। फिर शूद्रक राजा है, दण्डी राजा नही थे। अतः पिशेल साहब का यह मत युक्तियुक्त नही है। श्री नेरूरकर ने इसे भास की रचना कहा है। पर इसकी शैली भास की रचनाओ से सर्वथा भिन्न है। डा० सिलवाँ लेवी का कथन

है कि इस प्रकरण का शूद्रक से सम्बन्ध नही है। किसी नवीन नाटककार ने कृति को प्राचीन बनाने के लिए यह कल्पित नाम दे दिया है, जिससे उसकी कृति सम्मानित हो सके। पर इस कल्पना मे भी सार प्रतीत नही होता क्योकि कोई व्यक्ति अपने श्रम को अन्य नाम से प्रसारित नही कर सकता और फिर सम्मान प्राचीनता से नही, कृति की उत्तमता से मिलता है। डा० कीथ तो शूद्रक को सर्वथा काल्पनिक मानते है। उनके मतानुसार किसी लेखक ने भास के 'चारुदत्त' मे आर्यक के विद्रोह की कथा को समिश्रित करके 'मृच्छकटिक' की रचना की है। डा० कीथ का मत ही आजकल अधिक मान्य है। डा० कीथ का यह कहना कि शूद्रक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नही थे, मान्य नही है। क्योकि भारतीय ग्रंथो मे शूद्रक का उल्लेख विभिन्न प्रकार से मिलता है, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। पर इसमे सन्देह नही कि यह शूद्रक की रचना नहीं है और इस ग्रंथ मे शूद्रक का नाम काल्पनिक है। किसी अन्य कवि ने ही बृहत्कथा आदि ग्रंथो से गोपालदारक आर्यक और पालक की कथा लेकर भास के 'चारुदत्त' का परिवर्द्धन कर दिया है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि उस कवि ने अपना नाम क्यो नही दिया? इसके दो कारण हो सकते है। प्रथम तो यह कि उसने प्रसिद्ध नाटककार भास के कथानक को अपनाया था। इसलिए साहित्यिक चोरी के अपवाद से उसे लाञ्छित न होना पडे और दूसरे उसने अपनी कृति मे तत्कालीन राजा के चरित्र एवं उसकी न्याय-व्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया है। राजा को नीच स्त्रियो से सम्बन्ध रखनेवाला, न्याय मे अनुस्मृति इत्यादि नीति ग्रंथो की अवहेलना कर पक्षपात को अपनानेवाला कहा है तथा समाज के उच्च वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि—को पाप पंक मे लिप्त दिखाया है। इसी कारण राजदंड से बचने के निमित्त तथा समाज के कोष का भाजन न होने के लिए उसने अपना नाम नहीं दिया है।

'मृच्छकटिक' का रचयिता चाहे कोई रहा हो, किन्तु इसके अध्ययन से उसके दक्षिणात्य होने का आभास मिलता है। इसमे वसन्तसेना के

हाथी का नाम 'खुण्टमोडक' दिया है (य स आर्यायाः खुण्टमोडको नाम दुष्ट हस्ती) तथा पैसे के लिए 'नाणक' शब्द का प्रयोग किया है (एषा नाणक मोषिका)। ये प्रयोग दक्षिणात्य ही है। इनके अतिरिक्त चाण्डाल का 'सध्यवासिनी' देवी को मनाना (भगवति सध्यवासिनि, प्रसीद, प्रसीद), चन्दनक का 'कर्णाटकलह' करते हुए अनेको दक्षिणी भाषाओ के नाम लेना इत्यादि से भी इसके कर्ता का दक्षिणात्य होना प्रतीत होता है। किन्तु यदि इन शब्दो के आधार पर उन्हे दक्षिणात्य न भी माना जाय तो यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि उनका दक्षिण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। इस ग्रथ के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि इसका कर्ता एक बहुज्ञ व्यक्ति था। उसे विभिन्न भाषाओ मे दक्षता प्राप्त थी, ज्योतिष, धर्म और नीतिशास्त्र का उसने सम्यक् अनुशीलन किया था। वेदान्त, योग इत्यादि दर्शनो का भी ज्ञान था। वह शिव का भक्त, गौ-सेवक और वर्णाश्रम धर्म के प्रति विश्वासी था। साहित्य का तो पण्डित ही था।

जिस प्रकार 'मृच्छकटिक' के रचयिता के सम्बन्ध मे मत-वैभिन्य है, उसी प्रकार इसके रचनाकाल के सम्बन्ध मे भी एक मत नही है। कोई-कोई विद्वान् इसकी रचना कालिदास (१०० ई० पू०) से पूर्व मानते है और कालिदास के नाटको पर इसका प्रभाव स्वीकार करते है। किन्तु भास के बाद की रचना अवश्य स्वीकार करते है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' मे रुमिल और सौमिल नामक नाटककारो का नामोल्लेख किया है। अतः इस मत के माननेवाले इन्ही मे से किसी को इस नाटक का रचयिता कहकर शूद्रक से उसकी अभिन्नता घोषित करते है। कालिदास से पूर्व सिद्ध करने के लिए 'राष्ट्रिय' शब्द को लिया गया है। 'मृच्छकटिक' मे 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग 'पुलिस-अधिकारी' के अर्थ मे हुआ है और उसके बाद के साहित्य मे राजा के साले के अर्थ मे इसका प्रयोग होने लगा। कालिदास ने 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। इसीलिए यह कालिदास के पूर्व की रचना है। 'मृच्छकटिक' मे प्रयुक्त प्राकृतो के प्रयोग मे प्राकृत के व्याकरण ग्रथो के नियमो का पालन नही

हुआ है। इससे प्रकट होता है कि इसकी रचना इन व्याकरण ग्रंथो की रचना से पूर्व हुई होगी। अतः इसका रचनाकाल तृतीय शताब्दी पूर्व प्रमाणित होता है। स्वर्गीय चन्द्रशेखर शास्त्री का यही मत है। किन्तु ग्रंथ के अन्तरग एवं बाह्य प्रमाणो से यह काल सिद्ध नही होता। वामनाचार्य ने अपने ग्रथ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' मे 'शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु' कहकर 'मृच्छकटिक' के 'द्यूतंहिनाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्' वाक्य को उद्धृत किया है। उनसे भी पूर्व आचार्य दण्डी (सातवी शताब्दी) ने 'काव्यादर्श' मे अलंकार निरूपण करते समय 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इस मृच्छकटिक के पद्याश को उद्धृत किया है। अतः यह सिद्ध होता है कि इसकी रचना सातवीं शताब्दी से पूर्व हो गई होगी। अब अन्तरंग प्रमाणो पर विचार किया जाय। 'मृच्छकटिक' मे वसन्तसेना की हत्या के अभियोग का निर्णय 'मनुस्मृति' के अनुसार इस प्रकार किया जाता है :—

"अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह" ॥६-३६॥

अत' इसकी रचना 'मनुस्मृति' के अनन्तर हुई होगी। 'मनुस्मृति' का रचनाकाल विक्रम से दो शताब्दी पूर्व माना जाता है। उसके बाद ही इस प्रकरण की रचना हुई होगी। 'मृच्छकटिक' मे ज्योतिष सम्बन्धी एक श्लोक आया है :—

"अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य वृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥"

इस श्लोक के अनुसार वृहस्पति अंगारक अर्थात् मंगल के विरोधी है। 'वृहज्जातक' आदि मे भी ये दोनो ग्रह विरोधी बताये गये है। किन्तु वराहमिहिर इन दोनो ग्रहो को मित्र मानते है। आजकल वराहमिहिर का सिद्धान्त ही मान्य है। वराहमिहिर की मृत्यु ५८६ ई० मे हुई थी। अतः मृच्छकटिक की रचना इससे पूर्व हुई होगी। इन प्रमाणो के आधार

पर 'मृच्छकटिक' का काल भास और वराहमिहिर के मध्य होना चाहिए। 'मृच्छकटिक' मे जिन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थाओ का चित्रण हुआ है, वे ईसा की पाँचवी तथा छठवी शताब्दी की प्रतीत होती है। अतएव इसी समय के लगभग इसकी रचना हुई होगी।

वस्तु-विवेचन—इस प्रकरण की कथावस्तु उज्जयिनी के सार्थवाह चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम पर आधारित है। प्रथम अङ्क मे चारुदत्त के समीप उसका मित्र विदूषक मैत्रेय उसके अन्य मित्र चूर्णबृद्ध द्वारा प्रदत्त जाती कुसुम सुवासित उत्तरीय लेकर आता है। जिसे देखकर चारुदत्त को अपनी दरिद्रावस्था के स्मरण से महान् दुःख होता है। वह अपने मित्र मैत्रेय को मातृबलि अर्पणार्थ जाने को कहता है। किन्तु वह प्रदोष काल मे बाहर जाने से डरता है। चारुदत्त उसे ठहरने को कहकर समाधि-पूजा इत्यादि करने लगता है। उधर शकार अपने विट और चेट के साथ गणिका वसन्तसेना का पीछा करता है। शकार के ही वाक्यो से वसन्तसेना को ज्ञात हो जाता है कि कामदेवायतनोद्यान मे जिस चारुदत्त पर वह आसक्त हुई थी, उसी के घर के समीप पहुँच गई है। वह उस घर मे घुसने की प्रतीक्षा मे ही थी कि इतने मे पूजा से निवृत्त होने के बाद चारुदत्त द्वारा मातृबलि के लिए प्रेषित मैत्रेय रदनिका के साथ दीपक लेकर किवाड़ खोलता है। वसन्तसेना शीघ्रता से दीपक बुझाकर घर मे प्रविष्ट हो जाती है और शकार अंधकार मे रदनिका को पकड़ लेता है। मैत्रेय उसकी भर्त्सना करते हुए रदनिका को छुड़ाता है। अंधकार मे चारुदत्त पहले तो वसन्तसेना को दासी समझता है और अपने बच्चे को बहलाने का आदेश भी देता है। लेकिन मैत्रेय और रदनिका के लौटने पर उसे पहचान लेता है। इसके अनन्तर वसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के यहाँ रखकर घर जाना चाहती है। चारुदत्त उसे अपने हृदय में स्थान देकर घर छोड़ने जाता है। इसी घटना के साथ प्रथम अंक समाप्त होता है।

द्वितीय अंक मे एक ओर तो वसन्तसेना की विरहजनित व्याकुलता

प्रदर्शित की है। दूसरी ओर पाटलिपुत्र का सभ्य नागरिक संवाहक जो चारुदत्त की सेवा मे रह चुका था और जो चारुदत्त के निर्धन होने पर द्यूतक्रीड़ा से आजीविका प्राप्त करता था, जुए मे दस मोहर हारकर भागता है। द्यूतकार और माथुर उसका पीछा करते है। पहले तो वह एक देवी के मन्दिर मे छिप जाता है। किन्तु अपने द्यूतप्रिय स्वभाव के कारण उन दोनो के वही खेलने पर स्वयं ही प्रकट हो जाता है। वे दोनो उसे मारते है। इतने मे दर्दुरक आकर उसे छुड़ाता है। दर्दुरक माथुर की आँख मे धूल झोक देता है। अवसर पाकर दोनो फिर भाग जाते है और संवाहक वसन्तसेना के घर मे घुस जाता है। वसन्तसेना उसे चारुदत्त का भावी सेवक जानकर स्नेह करती है और पीछा करनेवाले द्यूतकार तथा माथुर को दस मोहर देकर छुड़ा लेती है। सवाहक ग्लानि के कारण बौद्धभिक्षु बन जाता है। उसी समय वसन्तसेना का चेट क्रुद्ध हाथी से एक भिक्षु को, बचाने के कारण प्रसन्न होने से चारुदत्त द्वारा उसे प्रदत्त प्रावारक को लाकर दिखाता है और अपनी वीरता तथा चारुदत्त की उदारता की घटना सुनाता है। वसन्तसेना चेट से उस प्रावारक को लेकर मुग्ध हो जाती है।

तृतीय अक में वसन्तसेना की दासी मदनिका का प्रेमी शर्विलक उसे दासता से मुक्त कराने के लिए चारुदत्त के यहाँ सेंध लगाता है। रेभिल का सगीत सुनकर रात को देर मे आये हुए चारुदत्त और मैत्रेय गहरी नींद मे सोये होते है। शर्विलक मैत्रेय से वसन्तसेना वाले आभूषणो को चुपचाप ले लेता है। जागने पर जब चारुदत्त को चोरी का पता चलता है तो चोर के रिक्त हाथ न लौटने पर प्रसन्नता और धरोहर को लौटाने की असमर्थता पर दुःख होता है। लेकिन उसकी साध्वी पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली लाकर देती है। मैत्रेय उस रत्नावली को वसन्तसेना को देने के लिए भेज दिया जाता है।

चतुर्थ अंक मे जिस समय शकार की गाड़ी को अवहेलना के साथ वापस करके वसन्तसेना चारुदत्त की स्मृति मे उदासीन बैंठी होती है,

उसी समय शर्विलक चुराये हुए आभूषण लेकर आता है। दासी मदनिका से उसकी बातचीत होती है। मदनिका आभूषणो को पहचान लेती है और उसे परामर्श देती है कि वह इन आभूषणो को वसन्तसेना को यह कहकर दे दे कि इनको चारुदत्त ने भेजा। वसन्तसेना छिपकर युगल प्रेमियो की बात सुन लेती है। इसलिए वह प्रसन्न होकर मदनिका को दासता से मुक्त करके शर्विलक को वधू बनाकर सौंप देती है। शर्विलक उसे लेकर चल देता है तभी उसे ज्ञात होता है कि राजा पालक ने उसके मित्र गोपालदारक को बन्दी बना लिया है। वह मदनिका को रेमिल के घर भेजकर स्वयं गोपालदारक को मुक्त करने के लिए चला जाता है। शर्विलक और मदनिका के जाने के बाद ही मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के पास आता है और कहता है कि चारुदत्त आपके आभूषणों को जुए मे हार गये है, उसके बदले मे यह रत्नमाला भेजी है। वसन्तसेना मन ही मन मुग्ध होती हुई रत्नमाला ले लेती है और सन्ध्या समय आने का सन्देश देकर मैत्रेय को विदा कर देती है।

पचम अंक मे सन्ध्या समय वसन्तसेना कड़कते हुए मेघो, चमकती हुई विद्युत् एवं निरन्तर वर्षा के मध्य तरबतर होती हुई अपने विट के साथ चारुदत्त के प्रति अभिसरण करती है। चारुदत्त प्रसन्न हृदय से उसका स्वागत करता है। वसन्तसेना उस रात्रि को वही रहती है।

षष्ठ अंक मे चारुदत्त प्रातः ही पुष्परंडक जीर्णोद्यान चला जाता है और वही वसन्तसेना को भेजने के लिए कह जाता है। वसन्तसेना जगकर यह समाचार पाती है तो बड़ी प्रसन्न होती है। वह रत्नावली धूता के पास वापस भेजती है। किन्तु धूता उसे ग्रहण नही करती। तभी दासी चारुदत्त के रोते हुए तथा सोने की गाड़ी से खेलने की जिद करते हुए पुत्र को बहलाती हुई आती है। वसन्तसेना सोने की गाड़ी बनवाने के लिए अपने आभूषणो को दे देती है तभी उसे सूचना मिलती है कि वर्धमानक चेट उन्हे पुष्परंडक जीर्णोद्यान पहुँचाने के लिए गाड़ी लेकर आ गया है। वह यह सूचना पाकर जब तक सज्जित होती है, तब तक बर्ध-

सुखाने डालता है। जल का स्पर्श पाकर वसन्तसेना की मूर्च्छा हटती है। भिक्षु उसे विश्रामार्थ विहार मे ले जाता है।

नवम अंक मे शकार न्यायालय मे जाकर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग चारुदत्त पर लगाता है। न्यायाधीश वसन्तसेना की माँ को बुलाकर पूछते है कि वसन्तसेना कहाँ गई है। वह उन्हे बताती है कि वह चारुदत्त के यहाँ गई है। फिर चारुदत्त को बुलाया जाता है। वह भी वसन्तसेना के साथ अपनी मैत्री स्वीकार करता है। इतने मे ही वीरक चन्दनक के झगडे की शिकायत करते हुए बताता है कि वसन्तसेना चारुदत्त की गाड़ी मे उससे मिलने जा रही थी। इसी बीच मैत्रेय, जो धूता के द्वारा वसन्तसेना के यहाँ उसके आभूषण लौटाने भेजा गया था, वहाँ आकर शकार से लड़ने लगता है। लड़ते समय आभूषण उसकी बगल से गिर जाते हैं। शकार उन्हे उठाकर न्यायाधीशो के समक्ष प्रस्तुत करता है। वसन्तसेना की माँ उन आभूषणो को पहचान लेती है और चारुदत्त भी स्वीकार कर लेता है कि वे आभूषण वसन्तसेना के ही है। अभियोग सिद्ध हो जाता है और राजा के आदेश से चारुदत्त को प्राणदण्ड दिया जाता है।

अंतिम अक मे चाण्डाल चारुदत्त को वधस्थान पर ले जाते है। शकार द्वारा बन्दी स्थावरक किसी प्रकार गवाक्ष से कूदकर आकर कहता भी है कि शकार ने ही वसन्तसेना को मारा है। लेकिन शकार उसे अपने स्वर्ण का चोर बताकर झूठा सिद्ध कर देता है। तभी चारुदत्त का पुत्र मैत्रेय के साथ आता है। शकार उसके वध का भी परामर्श देता है। चारुदत्त पुत्र को यज्ञोपवीत देकर विदा कर देता है। इतने मे ही भिक्षु के साथ वसन्तसेना आ जाती है। रहस्योद्घाटन होने पर चारुदत्त मुक्त कर दिया जाता है। शकार भाग जाता है। उधर शर्विलक समाचार लाता है कि पालक को मारकर आर्यक राजा बन गया। शकार बन्दी बनाया जाता है। परन्तु उसकी प्रार्थना पर चारुदत्त उसे छुड़ा देता है। तभी सूचना मिलती है कि चारुदत्त की मृत्यु का समाचार सुनकर धूता

जलकर प्राण त्याग रही है। चारुदत्त उसे बचाता है। धूता और वसन्तसेना परस्पर आलिंगन करती है। चारुदत्त राज्यादेश से वसन्तसेना को वधू के रूप मे स्वीकार करता है। भरत वाक्य के साथ प्रकरण समाप्त होता है।

इस प्रकार इस प्रकरण का कथानक घटनाओ के संघात से परिपूर्ण है। इसका कथानक विभिन्न घटनाओ के मध्य संचरित होता हुआ अपनी गत्यात्मकता को धारण किये रहता है। यही इसके कथानक की विशेषता है। प्रकरणकार ने रस संचार एव भाव व्यंजना के निमित्त वर्णनो को व्यर्थ विस्तार न देकर अभिनयकला की स्वाभाविकता की रक्षा की है। जहाँ वह वर्णन मे लीन हुआ है वही कथानक की गतिशीलता मे व्याघात उपस्थित हुआ है। ऐसे स्थल केवल दो ही है। वसन्तसेना के विभिन्न प्राङ्गणो का प्राकृत मे वर्णन तथा वसन्तसेना के अभिसरण के समय वर्षा का वर्णन। ये स्थल काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कथानक की गतिशीलता मे बाधक है। वैसे सर्वत्र इसका कथानक संस्कृत के अन्य नाटको की अपेक्षा अधिक गतिशील है। नाटक के कथानक को गति कथोपकथन की अपेक्षा व्यापार से मिलनी चाहिए। 'मृच्छकटिक' मे व्यापार अथवा अभिनय से ही कथा अग्रसर होती है। इस दृष्टि से कथानक सुसम्बद्ध एवं सुग्रंथित है। इस प्रकरण के प्रणेता ने भास के 'चारुदत्त' के प्रणय सम्बन्धी कथानक मे गोपालदारक आर्यक के राजनैतिक कथानक का कौशलपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया है। दोनों कथानको की संश्लिष्टता देखकर उनके मित्रत्व का अभास भी नही मिलता। हाँ, कथानक अधिक विस्तृत अवश्य हो गया है। जिसका विभाजन दस अंको मे किया गया है और प्रत्येक अंक मे अनेक दृश्यो का विधान है। केवल सप्तम अक मे एक दृश्य है अन्य सभी मे चार अथवा अधिक दृश्य है। प्रथम अंक मे ही चार दृश्य है। अतएव रंगमंच पर इस प्रकरण को अभिनीत करने मे अवश्य कठिनाई होगी। मार्ग के दृश्यो का अभिनय असुविधाजनक होगा। संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनु-

सार वध, शयन, आलिंगन आदि के दृश्य वर्जित होते है। इस प्रकरण मे ऐसे दृश्यो की योजना भी की गई है। यद्यपि वसन्तसेना मरती नही है तथापि उस समय तो उसकी हत्या हुई ही ज्ञात होती है।

प्रकरण का कथानक वैसे तो काल्पनिक ही होता है और उसका नायक इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति नहीं होता। भवभूति का 'मालती माधव' भी ऐसा ही प्रकरण है। लेकिन इसके कथानक की विशेषता यह है कि वह किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध न होकर मध्यम श्रेणी के सामान्य व्यक्ति से सम्बन्धित है तथा उसके द्वारा मध्यम वर्ग की दुर्बलताओ का दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार यह आदर्श की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट है।

इस प्रकरण की विशेषता यह भी है कि इसका वस्तु विन्यास पौर्वात्य नाट्य-प्रणाली के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुरूप भी लगता है। उसकी गतिशीलता पाश्चात्य ढंग की कॉमेडी जैसी मनोरंजकतापूर्ण है। प्रथम अंक मे वसन्तसेना द्वारा चारुदत्त के यहाँ अलंकारन्यास से कथानक का आरम्भ होता है। फिर कथानक आगे को विकसित होता है। अलंकारो की चोरी, रत्नमाला का वसन्तसेना को लौटाना और उसका अभिसरण विकासावस्था के अन्तर्गत ही आवेगा। शकट-परिवर्तन और वसन्तसेना की हत्या चरम सीमा कही जायगी। अंतिम अंक मे चारुदत्त को प्राणदंड निगति की अवस्था है और वसन्तसेना तथा चारुदत्त के विवाह मे अंत है। पाश्चात्य कथा-विकास के ये सोपान पूर्णतया घटित हो जाते है।

अर्थ प्रकृतियो, कार्यावस्थाओ एवं संधियो की दृष्टि से भी 'मृच्छकटिक' का कथानक सुगठित है। प्रथम अंक मे शकार की उक्ति से वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति आकर्षण प्रतीत होता है (एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता)। यही इसका बीज है। द्वितीय अंक मे कर्णपूरक से चारुदत्त का प्रावारक पाकर वसन्तसेना के प्रसन्न होने की घटना बिन्दु कही जा सकती है।

शर्विलक का कथानक मूलकथा के साथ अंत तक चलता है। अतएव वह मूल कथा की पताका है तथा परिव्राजक भिक्षु की कथा प्रकटी है और चारुदत्त का वसन्तसेना को वधू के रूप मे स्वीकार करना इस कथानक का कार्य है। प्रथम अंक मे वसन्तसेना का चारुदत्त के गृह मे आगमन और चारुदत्त का उसे देखकर प्रसन्न होना आरम्भावस्था है। वसन्तसेना का आभूषण छोड जाना से लेकर पञ्चम अंक के अन्त तक यत्नावस्था कही जायगी। इस बीच मे वसन्तसेना के दो प्रयत्न दिखाई पड़ते है। एक अपने आभूषण चारुदत्त के यहाँ छोड़ना और दूसरा रत्नावली के बदले पुनः उन्ही आभूषणो को चारुदत्त को देना। षष्ठ अंक से दशम अंक मे चाडाल के हाथ से कृपाण छूटने की घटना तक प्राप्त्याशा है क्योंकि इसमे फलप्राप्ति आशा और निराशा के मध्य आन्दोलित होती है। बौद्धभिक्षु के साथ वसन्तसेना का आना नियताप्ति और चारुदत्त के साथ उसका विवाह फलागम है। पंच सन्धियों का विधान भी मृच्छ-कटिक मे उपयुक्त हुआ है। प्रथम अंक से लेकर वसन्तसेना की 'चतुरो मधुश्चायमुपन्यासः' इत्यादि स्वगतोक्ति तक मुखसंधि है। उसी अङ्क की वसन्तसेना की 'आर्यः यद्येवमहमार्यस्य अनुग्राह्या'—इत्यादि उक्ति से पंचमाङ्क के अन्त तक प्रतिमुख संधि है। षष्ठ अङ्क के आरम्भ से दशम अङ्क मे चाण्डाल के हाथ से खड्ग छूट जाने पर वसन्तसेना की—'आर्या.! एषा अहं मन्दभागिनी यस्याः कारणादेष व्यापाद्यते'—उक्ति तक गर्भ सधि है। दशमाक मे ही चाण्डाल की 'त्वरित का पुनरेपा'—इत्यादि उक्ति से शकार की—'आश्चर्यः प्रत्युज्जीवितोऽस्मि' उक्ति तक विमर्श सधि है और इसी अंक मे—नेपथ्येकलकलः से अन्त तक निर्वहण संधि है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'मृच्छकटिक' का वस्तुविन्यास नाट्य-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है और उसमे गठन, प्रवाह, गति एवं सुसम्बद्धताजनित सौन्दर्य है।

नामकरण—किसी भी नाटक, प्रकरण अथवा काव्य का नामकरण

नायक, नायिका अथवा प्रमुख घटना आदि के आधार पर किया जाता है। साहित्य-दर्पण के अनुसार नाटक का नाम अर्थगर्भित होना चाहिए (नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्)। 'उत्तर-रामचरित' का नाम नायक के आधार पर, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' और 'रत्नावली' का नाम नायिका के आधार पर, 'वेणीसंहार' का नाम नाटक की प्रमुख घटना के आधार पर तथा 'मुद्राराक्षस' का नाम राक्षस की उस मुद्रा के आधार पर रखा गया है, जो चाणक्य की सफलता का साधन है। इस प्रकरण का नाम 'मृच्छकटिक' भी एक घटना के आधार पर रखा गया है। चारुदत्त का पुत्र रोहसेन पड़ौसी के यहाँ उसके पुत्र को सोने की गाड़ी से खेलते हुए देख आया है। वह मिट्टी की गाड़ी से नही खेलना चाहता। सोने की गाड़ी से खेलने का आग्रह करता है। रदनिका उसे बहुत कुछ समझाते हुए बाहर लाती है। जहाँ वसन्तसेना उपस्थित है। वसन्तसेना बालक के आग्रह को पूरा करने के लिए सोने की गाड़ी बनवाने के निमित्त अपने आभूषण दे देती है। बस यही घटना इस प्रकरण के नामकरण का आधार है। अब प्रश्न यह है कि इस घटना का प्रकरण की मूलकथा मे क्या महत्त्व है और इससे किस गर्भित अर्थ की व्यजना होती है ? नायक और नायिका के प्रणय कथानक मे तो इस घटना का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। केवल वसन्तसेना के यही आभूषण मैत्रेय के पास से न्यायाधिकरण मे गिरने से चारुदत्त के वसन्तसेना की हत्या-सम्बन्धी अपराध को पुष्ट कर देते है। किन्तु यदि ये आभूषण मैत्रेय से प्राप्त नही भी होते तो भी न्यायाधीशों की भीरुता और शकार के आतंक के कारण चारुदत्त को प्राणदण्ड मिल ही जाता। यदि यह माने कि वसन्तसेना उन आभूषणो द्वारा चारुदत्त के हृदय मे अपना स्थान दृढ बनाना चाहती है तो वे आभूषण स्वर्ण के थे और स्वर्ण-शकट-निर्माणार्थ दिये गये थे। अतः प्रकरण का नाम 'सुवर्ण-शकटिकम्' होना चाहिए। किन्तु स्वर्ण शकट का प्रस्ताव तो मिट्टी के शकट के कारण ही उपस्थित हुआ है। अतः स्वर्ण शकट की अपेक्षा मृच्छकटिक ही अधिक उपयुक्त है।

यह तो ठीक है। लेकिन महत्त्वपूर्ण घटना न होने पर भी इस नाम का क्या कारण है ? ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने 'मृच्छकटिक' का प्रयोग 'प्रतीक' के रूप मे किया है। रोहसेन अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट होकर स्वर्ण शकट की माँग करता है। इसीलिए उसे रोना पड़ता है। अतः 'मृच्छकटिक' असन्तोष का प्रतीक है। चारुदत्त भी धूता से सन्तोष न पाकर वसन्तसेना की ओर आकर्षित होता है और वसन्तसेना सुलभ शकार को न चाहकर सर्वगुणालकृत चारुदत्त की ओर आकर्षित होती है, दोनो का यह असन्तोष किस प्रकार दोनो के जीवन को कष्टमय बना देता है, यह स्पष्ट है। अतएव प्रतीक रूप मे 'मृच्छकटिक' की घटना को अपनाकर उसी को नामकरण का आधार बनाना सर्वथा उपयुक्त है।

इसके अतिरिक्त पञ्चम अंक तक की कथा का आधार भास का 'चारुदत्त' है और उसके बाद इसी घटना के अनन्तर की कथा प्रकरण-कार की अपनी कल्पना है। अपनी कल्पना के आरम्भ को प्रकट करने के लिए ही सम्भवतः प्रारम्भिक घटना के आधार पर इसका नाम 'मृच्छकटिक' रख दिया है।

रोहसेन मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाडी चाहता है अर्थात् शकट-परिवर्तन चाहता है। अतः यह शकट-परिवर्तन ही आगे होनेवाले शकट-परिवर्तन की पूर्व सूचना है। शकट-परिवर्तन से वसन्त-सेना का शकार के पास पहुँच जाना ही प्रकरण की कथा को विस्तार देता है। इसलिए 'मृच्छकटिक' नाम उचित प्रतीत होता है।

पात्र-परिचय—पात्रो की दृष्टि से हमे 'मृच्छकटिक' मे वैविध्य के दर्शन होते है। लेखक ने जीवन का आदर्श उपस्थित करनेवाले पात्रों के साथ यथार्थ जगत् के पात्रो की भी सृष्टि की है। यदि उसमे आदर्श प्रेमी चारुदत्त, त्यागमयी गणिका वसन्तसेना, पतिपरायणा धूता, अभिन्न-हृदय मित्र मैत्रेय जैसे उन्नत पात्र है तो उनके साथ ही दुष्टहृदय शकार,

द्यूतकार माथुर, प्रेमी चोर शर्विलक, विवशदास चेट, कठोर उदार चाण्डाल जैसे सामान्य पात्र भी है। इनके अतिरिक्त इस नाटक का संसार जुआरी, बदमाश, भिक्षु, राजसेवक, सेविकाओ, राजनैतिक षड्यन्त्री, पुलिस-कर्मचारी, निठल्ले बेकार पुरुषो आदि से निर्मित हुआ है। 'मृच्छकटिक' के पात्रो की विशेषता यह है कि वे किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि नही है, अपितु अपनी व्यक्तिगत सत्ता रखते है। न तो वसन्तसेना गणिकाओ की प्रतिनिधि है और न चारुदत्त सामान्य श्रेष्ठी का प्रतिनिधि है। उनकी अपनी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताये है। पवित्र हृदय विट साधारण सेवक का प्रतिनिधि नही कहा जा सकता। उसे उदरपूर्ति के निमित्त विवश होकर शकार की दासता स्वीकार करके अपमानपूर्ण जीवन-यापन करना पड़ता है। लेखक ने अपने पात्र मध्यम वर्ग से चुने है। इसलिए वे संस्कृत के अन्य नाटको से भिन्न है। शायद इसी कारण रेडर ने मृच्छकटिक के पात्रो को सार्वदेशिक पात्र कहा है। रेडर ने संस्थानक, मैत्रेय और मदनिका को विश्व के नागरिक माना है। किन्तु डा० कीथ उनके मत का खंडन करते हुए कहते है—This claim, however, can hardly be admitted, the Mrcchokatika as a whole is a drama redolent of Indian thought aud life and none of the three characters adduced have any special claim to be more cormo-politan than some of the creations of kalidasa. इसमे सन्देह नही कि 'मृच्छकटिक' के पात्रो मे व्यक्तिगत वैशिष्ट्य है, फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि समग्र रूप से नही तो यत्किञ्चित् रूप से 'मृच्छकटिक' मे चित्रित जैसे पात्र विश्व मे सर्वत्र मिल जायँगे। अतएव कीथ के कथन को स्वीकार करते हुए भी रेडर के मत की सर्वथा अवहेलना नही की जा सकती। प्रकरणकार ने विविध पात्रो का चरित्राङ्कन उनकी व्यक्तिगत सीमाओ के अन्तर्गत सफलता के साथ किया है।

चारुदत्त इस प्रकरण का नायक है। उसका चरित्र अद्भुत गुणो से

विभूषित है। वह जन्मना ब्राह्मण होते हुए कर्मणा श्रेष्ठी है। दान, दया, उदारता, परोपकार इत्यादि ऐसे गुण उसमे वर्तमान है, जिनके कारण वह उज्जयिनी के सभी नर-नारियो का श्रद्धा-भाजन बना हुआ है। उसकी प्रशंसा उसके प्रतिद्वन्द्वी भी करते है। उसके प्रतिद्वन्द्वी शकार का सेवक विट उसकी प्रशंसा इन शब्दो मे करता है :—

"दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्श शिक्षितानां सुचरितनिकष शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्वो
ह्येक श्लाघ्य स जीवत्यधिक गुणतया चोच्छ्वसन्ती व चान्ये" ॥१-४८॥

'(चारुदत्त) दीनो का कल्पवृक्ष है जो अपने गुणरूपी फलो से नत रहता है। वह सज्जनो का कुटुम्बी, शिक्षितो का आदर्श, सच्चरित्रो की कसौटी, शीलरूपी मर्यादापूर्ण वेलावाला सागर, श्रेष्ठ कार्य करनेवाला, किसी का अपमान न करनेवाला, मानवीय गुणो का भंडार, सरल एवं उदारचित्त है। उसी का प्रशंसनीय गुणो से युक्त जीना जीना है, अन्य तो केवल उच्छ्वास ही लेते है।' इन्ही गुणो के कारण निर्धन होते हुए भी वसन्तसेना उसकी ओर आकर्षित होती है। मैत्रेय के पहुँचने पर वह चारुदत्त के गुणो का वर्णन करती हुई इस प्रकार उसकी कुशलता पूछती है।

"गुणप्रबालं विनयप्रशाखं, विस्रम्भमूलं महनीयपुष्पम्।
त साधुवृक्षं स्वगुणै फलाढ्य सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति" ॥४-३१॥

'गुण जिसके पत्ते है, विनय ही विनम्र शाखायें है, विश्वास जड़ है, गौरव पुष्प है और अपने गुणरूपी फलो से जो फलवान् है, उस साधु-चारुदत्तरूपी उत्तम वृक्ष पर मित्रगणरूपी पक्षी क्या सुख से आश्रय ग्रहण करते है?' संवाहक चारुदत्त की प्रशंसा करते हुए कहता है—"शाहु, अज्ज चालुदत्त! शाहु, पहुवीए तुमं एक्के जीवशि, शेशे उण जणे शशदि।"—'साधु आर्य चारुदत्त! साधु, पृथ्वी पर केवल तुम्हारा

ही जीवन जीवन है अन्य तो व्यर्थ श्वास लेते है।' और चन्दनक वीरक को उसका परिचय देते हुए कहता है :—

"को तं गुणारविन्दं सीलमिअङ्कं जणोण जाणादि ?
आवण्ण दुक्ख-मोक्खंचउ--साअर-सारअं रअणं ॥"

'आपत्तिग्रस्तो के उद्धारक, चारो समुद्रो के रत्न, गुण के कमल और शील के चन्द्रमा (चारुदत्त) को कौन नही जानता ?' संवाहक के शब्दो मे वह भूतल का मृगाङ्क है। उसके गुणों से प्रभावित होकर ही न्यायाधीशगण अभियुक्त होते हुए भी उसे आसन प्रदान करते है। ऐसी कुछ विशिष्टता है उसके चरित्र मे।

चारुदत्त उदार दानी है। दान देते-देते वह इतना दरिद्र हो गया है कि अपने घर की स्वच्छता इत्यादि की व्यवस्था भी नही कर पाता। उसके द्वार पर लम्बी-लम्बी घास उग आती है। उसे भी हटाने के निमित्त अर्थ का अभाव है। दारिद्र्य को जीवन का अभिशाप तथा मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक समझते हुए भी उसके कारण दुखी नही है। दुःख केवल इसलिए है कि सम्पत्तिहीन जानकर अतिथि अब उसके यहाँ नहीं आते। वह कहता है :—

"एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम्" ॥१-१२॥

'मुझे तो केवल यह बात दग्ध करती है कि जिस प्रकार मदजल पीने के लिए मँडराते हुए भ्रमर समय बीतने पर मदजल के शुष्क होने पर गाढ़ मदलेखा से चिह्नित हाथी के गण्डस्थल पर घूमना छोड़ देते है, उसी प्रकार अतिथिगण धन के क्षीण होने से मेरे घर को छोड़ जाते है।

उस दीनावस्था मे भी चारुदत्त को अपने वंश की सुकीर्ति का ध्यान है। उस कीर्ति की रक्षा के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। वह

गुणी और उपकारी सज्जन का सम्मान करने मे पर्याप्त उदार है। मदोन्मत्त गज से भिक्षु की रक्षा करने के कारण प्रसन्न होकर कर्णपूरक को अपना प्रावारक दे डालता है। वसन्तसेना के आगमन के शुभ समाचार को लाने के कारण चेट को वस्त्र देता है तथा जब पारितोषिक देने मे अपने को असमर्थ पाता है, तभी उसे अपनी दरिद्रता के प्रति क्षोभ होता है।

वह एक निर्भय और साहसी व्यक्ति है। शकार के मरणान्तक वैर की धमकी को उसकी अज्ञता कहकर अवहेलना की दृष्टि से देखता है। अपनी गाड़ी में वसन्तसेना के स्थान पर आर्यक को देखकर भयभीत नहीं होता अपितु तत्काल अपना कर्तव्य निश्चित कर लेता है। असत्य अभियोग के कारण मृत्युदण्ड पाने पर भी दीनता प्रदर्शित नही करता और न मरने से भयभीत ही होता है। उस समय उसे दुःख केवल अपने वंश की अकीर्ति का है। कलंकपूर्ण मृत्यु ही के कारण उसे वेदना है। वह कहता है :—

"न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यश ।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥१० २७॥"

'मै मृत्यु से भयभीत नही हूँ, केवल यश के कलकित होने का भय है। यदि मेरी विशुद्ध मृत्यु होती तो मुझे पुत्रजन्म के समान आनन्द होता।'

चारुदत्त का हृदय अत्यन्त उदार, गम्भीर और करुणाप्लुत है। वह किसी को भी कष्ट देने की कल्पना भी नही कर पाता। यहाँ तक कि अपने सेवको तक के प्रति वह अत्यन्त कृपालु है। रात्रि को देर से आने पर वह सोई हुई रदनिका को जगाकर कष्ट नहीं देना चाहता (अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्)। पशु-पक्षियो के प्रति भी उसकी करुणा श्रवित होती रहती है। चेट द्वारा फेंकी हुई ककड़ी को कबूतर द्वारा गिराई हुई जानकर जब विदूषक कबूतर को मारना चाहता है, तो चारुदत्त उसे मना करता हुआ कहता है—'तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी

पारावतः ।' वसन्तसेना के मारने के अभियोग के समय वह उसके मारने की बात तक अपने मुख से नही कह पाता। वह इतना कोमल-हृदय है कि पुष्प के लिए कोमल लता को झुकाकर पुष्पचयन तक नही करता। कही लता को कष्ट न हो जाय। शरणागत की रक्षा के लिए तो वह अपना जीवन तक संकट मे डाल सकता है। आर्यक के शरण मे आने पर कहता है :—"अपि प्राणानहं जह्या न तु त्वा शरणागतम्"—'अपने प्राणों को भले ही त्याग दूँ, किन्तु शरण मे आये हुए तुम्हे नहीं त्यागूँगा।' उसकी शरणागत वत्सलता अपनी पराकाष्ठा को उस समय पहुँच जाती है, जब वह अपने विरोधी शकार तक को शरण मे आने पर मुक्त करा देता है। उसकी उदारता तो यहाँ तक बढी हुई है कि चोर को अपने घर से विफल मनोरथ गया हुआ सुनकर उसे दुख होता है और उसे ज्ञात होता है कि चोर आभूषण ले गया तो उसे प्रसन्नता होती है।

अर्थाभाव से पीड़ित होते हुए भी वह अपनी प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आने देता। चोरी होने पर भी वसन्तसेना की धरोहर को वापस करना अपना कर्तव्य समझता है। द्यूतक्रीड़ा मे आभूषणो को हार जाने की असत्य बात कहकर भी बहुमूल्य रत्नमाला को बदले मे देकर पर अपवाद से अपने को रक्षित समझता है। द्यूतक्रीड़ा के दोष को विश्वासघात की अपेक्षा श्रेयस्कर समझता है।

चारुदत्त मे वसन्तसेना गणिका से प्रेम होते हुए भी चारित्रिक दृढता है। जिस समय उसे ज्ञात होता है कि उसकी दासी रदनिका के धोखे मे अन्य स्त्री से उसके वस्त्रो का स्पर्श हो गया है तो उसे खेद होता है और वह अपने खेद की व्यञ्जना इन शब्दो मे करता है—"अविज्ञाता वसक्तेन दूषिता मम वाससा।"—'अज्ञानावस्था मे मेरे वस्त्रो के स्पर्श से वह दूषित हो गई।' इससे उसके चरित्र की दृढ़ता का परिचय मिलता है। यदि ऐसा है तो फिर वसन्तसेना के प्रति आसक्ति क्यो? वास्तव में वसन्तसेना के प्रति उसका प्रेम वसन्तसेना के ही आकर्षित होने के कारण है। उसी की परितुष्टि के निमित्त है। इसीलिए प्रणय-व्यापार मे वह

सक्रिय दृष्टिगत नही होता। सारी सक्रियता वसन्तसेना की ओर से ही होती है। इसके अतिरिक्त वह इस विषय मे चरित्र को दोषी नही समझता, यौवन को अपराधी कहता है। (यौवनमत्रापरुध्यति न चारित्रम्) वसन्तसेना के प्रति उसका प्रेम अन्ध नही है और न है उसे कर्त्तव्य से च्युत करनेवाला। अपने दाम्पत्य जीवन की सरसता को वह इस प्रेम से क्षीण नही होने देता। अपनी पतिव्रता पत्नी धूता पर उसे अभिमान है। विपत्ति मे सहायिका अपनी पत्नी द्वारा रत्नावली पाकर वह हर्ष से गद्गद होकर करता है—"नाहं दरिद्रः। यस्य मम विभवानुगता भार्या।" —'मै दरिद्र नही हूँ, जिसकी पत्नी उसके विभव मे अनुगत है।' वसन्तसेना को पाकर भी अपने वियोग मे चितारोहण करनेवाली पत्नी को बचाने के लिए दौड़ पड़ता है। अपने पुत्र रोहसेन के प्रति भी उसे वात्सल्य है। मृत्युदण्ड पाकर पुत्रदर्शन की ही कामना करता है और उसे कुलोचित उपदेश के साथ अपना यज्ञोपवीत समर्पित करके सन्तोष की साँस लेता है।

वह एक कलाप्रिय व्यक्ति है। रेमिल के सगीत की वह मुक्तकठ से प्रशंसा करता है। उसके स्वर बहुत समय तक उसके श्रवणो मे गूँजते रहते है। सेध लगने पर भी अपनी चोरी की चिन्ता छोड़कर सेध लगाने की कला को आश्चर्यान्वित होकर देखता रह जाता है और उसकी प्रशंसा करता है।

इन गुणो के साथ चारुदत्त मे धार्मिक प्रवृत्ति भी है। प्रथम अक मे ही हम उसके उपासक रूप के दर्शन करते है। देवताओ के प्रति मैत्रेय के द्वारा अश्रद्धा व्यक्त करने पर वह कहता है—"वयस्य! मा मैवम्। गृहस्थस्य नित्योऽयं विधिः।"—'मित्र, ऐसा न कहो। गृहस्थो का यह नित्य नियम है' :—

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः।
तुष्यन्ति शमिनां नित्य देवताः कि विचारितै.॥

तप, मन, वाणी और बलि कर्म द्वारा पूजित देवता शान्तचित्त

व्यक्ति पर अवश्य प्रसन्न होते है। इसमें विचार के लिए अवकाश नही।' चारुदत्त भाग्यवादी है। इसीलिए सन्तोषी भी है।

इस प्रकार चारुदत्त मे हम धार्मिक, दानी, उदार, गम्भीर, सहृदय, प्रेमी, दयालु, परोपकारक और शरणागत वत्सल व्यक्ति का दर्शन करते है। चारुदत्त की सभ्यता, कुलीनता, सच्चरित्रता एवं उदारता के कारण वह उज्जयिनी जन मन मानस का हंस बन गया है। लेखक ने अत्यन्त सफलता के साथ उसका चरित्र-चित्रण किया है।

वसन्तसेना, उज्जयिनी की वैभवशालिनी प्रसिद्ध गणिका, इस प्रकरण की नायिका है। जिसने अपने गणिकात्व के कालुष्य को अनन्य प्रेम, दृढ़ चरित्र, उदार हृदय एवं अपूर्व त्याग आदि गुणो से प्रच्छालित करके विशुद्ध नारीत्व प्राप्त किया है। उसमे इतनी गुणस्पृहा है कि दरिद्र होते हुए भी गुणो के कारण ही वह चारुदत्त को अपना हृदय समर्पित कर देती है। वह इतनी समृद्धिशालिनी है कि विदूषक मैत्रेय उसके भवन के अष्ट प्रकोष्ठो को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाता है और कहने लगता है—"किं दाव गणि आघरो? अद्य वा कुवेरभवण परिच्छेदोत्ति?"—'क्या यह गणिका का घर है अथवा कुबेर का भवन समीप हो गया है?' फिर भी दरिद्र व्यक्ति के प्रति अनुरक्त होना उसके हृदय की पावनता एवं उसके अनुराग की सत्यता सूचित करता है। वह राजा के साले शकार के वैभव को जानते हुए भी, उससे प्रेम करने के अनन्तर आनन्द एवं विलासमय जीवन की सम्भावना होते हुए भी उसकी सदा अवहेलना ही करती है। यहाँ तक कि उसके द्वारा प्रेषित दश सहस्र के स्वर्णालङ्कारो का तिरस्कार कर देती है और शकार के प्रति प्रेम का अनुरोध करने पर माँ से स्पष्ट शब्दो मे कह देती है—"जइ मं जीअन्तीं इच्छसि ता एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए आणाविदव्वा।"—'यदि मुझे जीवित देखना चाहती है तो फिर कभी मुझे इस प्रकार की आज्ञा न दे।' यही नही जीर्णोद्यान में शकार के स्वयं प्रलोभन देने पर उसे ठुकरा देती है। उसे शकार के हाथो मरना स्वीकार है किन्तु सहकार पादप (चारुदत्त) की

सेवा करके पलाश पादप (शकार) को अंगीकार करना उसे स्वीकार्य नही। दरिद्र चारुदत्त के प्रति अनुरक्ति मे वह अपना गौरव और अपना सौभाग्य समझती है। अपनी दासी से स्पष्ट कहती है—"दलिद्द पुरिस-सङ्कन्तमणा क्खु गणिआ लोए अवअणीआ भोदि।"—'दरिद्र व्यक्ति के प्रति अनुरक्त गणिका संसार मे निन्दनीय नही होती।' चारुदत्त के प्रति उसकी अनुरक्ति की प्रशंसा संस्थानक शकार का विट भी इन शब्दा मे करता है—'सुष्ठु खल्विदं उच्यते—रत्नं रत्नेन संगच्छते।'

चारुदत्त के प्रति उसकी आसक्ति इतनी अधिक है कि वह उसका नाम मात्र सुनकर आत्म-विभोर हो जाती है। उसकी शरण मे आने पर जब संवाहक अपने को चारुदत्त का पहले का दास होना स्वीकार करता है तो वह सहर्ष उसे ऋणमुक्त करा देती है और इतनी उदार तथा निस्पृह है कि उसकी मुक्ति के श्रेय को स्वयं स्वीकार नहीं करना चाहती है। द्यूतकार माथुर से यही कहलाती है कि यह संवाहक ने ही भेजा है (अअं अज्जो ज्जेव पडिवादेदि) तथा सवाहक की सेवा भी बदले मे स्वीकार नही करती। चारुदत्त के लिए वह अपना सर्वस्व त्याग करने को उद्यत् है। उसके पुत्र को स्वर्ण-शकट के लिए रोते देखकर उसका मातृत्व जग जाता है और वह अपने आभूषण प्रसन्नता के साथ स्वर्ण शकट निर्माणार्थ दे देती है तथा चारुदत्त की पत्नी धूता की रत्नावली को भी लौटाना चाहती है। चारुदत्त से मिलने के लिए, उसके हृदय को जीतने के लिए वह स्वयं प्रयत्नशील होती है। यद्यपि स्त्रियाँ पुरुषो को हाव-भाव से ही भले आकर्षित करे तथापि चाहती यह है कि पुरुष ही उनसे प्रणय-याचना करे। लेकिन वसन्तसेना चारुदत्त के गूढ प्रणय-निवेदन को समझकर स्वयं ही प्रेम-प्रदर्शन का प्रयत्न करती है। वह गाढान्धकार और मूसलाधार वर्षा मे भी उसके प्रति अभिसरण करती है और कहती है :—

"गर्ज वा वर्ष शक्र! त्वं मुञ्च वा शतशोऽशनिम्।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति" ॥५-३१॥

'हे इन्द्र, चाहे गर्जना करो या वर्षा करो अथवा सैकड़ो वज्र गिराओ, किन्तु प्रियतम के निकट जाती हुई कामिनियो को रोकने मे समर्थ नही हो सकते।' और हम देखते है कि वह भीगती हुई भी चारुदत्त के समीप पहुँच जाती है। चारुदत्त के लिए वह अपने प्राणो को भी संकट मे डाल देती है। चेतना प्राप्त करने पर जब उसे ज्ञात होता है कि उसी के कारण चारुदत्त को प्राणदण्ड दिया जा रहा है तो उसे अपने पर ग्लानि होती है और उसे बचाने के लिए दौड़ पड़ती है तथा प्रेमावेग के कारण सभी के समक्ष वह चारुदत्त के हृदय पर गिर जाती है। उसके इसी प्रेम और त्याग का फल उसे यह प्राप्त होता है कि गणिका के गर्हित एवं निंद्य जीवन से उसे छुटकारा मिलता है और चारुदत्त की कुलवधू बन जाती है।

वसन्तसेना का हृदय प्रेम की कोमल भावना से निर्मित हुआ है। वह स्वयं प्रेममयी है। इसलिए दूसरो के प्रेम का सम्मान करना भी जानती है। वह छिपकर शर्विलक और मदनिका के वार्तालाप को सुनती है और उसे ज्ञात होता है कि वे दोनो परस्पर अनुरक्त है तथा प्रेम के कारण ही शर्विलक ने चोरी की है तो वह मदनिका को दासता से मुक्त करके शर्विलक को वधू के रूप मे सौप देती है। यह है उसकी विशाल हृदयता। चारुदत्त की पत्नी धूता के प्रति उसे ईर्ष्या नही होती। वह उसे बड़ी भगिनी का सम्मान देती है।

चारुदत्त के प्रति अनुरक्त होते हुए भी उसे अपने गणिका होने का ज्ञान है। इसीलिए वह एक कुलीन के अन्तःपुर मे प्रविष्ट होने मे संकोच करती है। चारुदत्त द्वारा रोहसेन को लेकर अन्दर प्रविष्ट होने की आज्ञा देने पर वह अपने मन मे कहती है—"अभाइणीक्खु अहं तुम्हे अवभन्तरस्स।"—'आपके अन्तःपुर के लिए मै अभागिनी हूँ।' इस प्रकार वह मर्यादा का अतिक्रमण नही करती।

वसन्तसेना एक बुद्धिमती नारी है। राजमार्ग पर शकार द्वारा पीछा किया जाने पर विट के वचनो मे गर्भित अर्थ को तुरन्त हृदयङ्गम कर

लेती है और तदनुरूप अपने को बचाती हुई चारुदत्त के यहाँ पहुँच जाती है। वह कलावती भी है। चारुदत्त का चित्र बनाकर मदनिका को दिखाती है। वह विदुषी भी है। संस्कृत का भी उसे ज्ञान है। इसीलिए यदाकदा संस्कृत मे भी बोलती है। गणिका होते हुए भी उसमे धार्मिक प्रवृत्ति है। इस प्रकार कुशल कलाकार ने वसन्तसेना का चित्राङ्कन करते हुए नारीत्व के उत्तम गुणो की विभूति प्रदान की है और गणिका होने की पंकिलता को मिटाकर कुलवधू का गौरव प्रदान किया है।

चारुदत्त का प्रतिद्वन्द्वी 'काणेली मातृक' राष्ट्रियश्याल संस्थानक शकार है। दूषित उत्पत्ति-के अनुरूप ही शकार के चरित्र मे प्रवञ्चना, षड्यन्त्रों की प्रवृत्ति, धृष्टता, नीचता, अज्ञता, असत्यता, हठवादिता, मूर्खता, कायरता, क्रूरता एवं विलासिता इत्यादि की गर्हित भावनाओ का पुञ्ज दृष्टिगत होता है। वह बड़ा अभिमानी एवं आत्मश्लाघी व्यक्ति है। अपने को देव पुरुष मनुष्य वासुदेव (देव पुलिशे मणुश्शे वाशुदेवके कहता है। अपनी भगिनी के राजा की रखेली होने मे अभिमान का अनुभव करता है और इसी सम्बन्ध के बल से वह न्यायाधीशो को उनके पद से च्युत कराके नवीन न्यायाधीशो की नियुक्ति धमकी देकर मनमाना न्याय कराना चाहता है। उसकी प्रत्येक बात मूर्खता एवं अज्ञता से पूर्ण है। वसन्तसेना का पीछा करते समय स्वयं ही उसे चारुदत्त के घर का पता बता देता है तथा वसन्तसेना के स्थान पर रदनिका के बालो को ऐसे पकड लिया है जैसे चाणक्य ने द्रौपदी के बालो को पकड़ लिया था (केशविन्दे पलामिट्टा चाणक्केणेव्व दोवदी)। उसके पौराणिक ज्ञान का परिचय इन शब्दो से मिलता है :—

"कि शे शक्के वालिपुत्ते महिन्दे लम्भापुत्ते कालणेमी शुबन्धू।
लुद्देलाआ दोणपुत्ते जडाऊ चाणक्के वा धुन्धुमाले तिशङ्कू" ॥८-३४॥

'क्या वह (चारुदत्त) इन्द्र है या बालि का पुत्र महेन्द्र है या रम्भा का पुत्र कालिनेमि या सुबन्धु है। या राजा रुद्र है या द्रोण-पुत्र जटायु है या चाणक्य है या धुन्धुमार या त्रिशंकु है।'

उसके स्वभाव में स्थैर्य किञ्चित्मात्र भी नहीं है। पता नही किस समय वह क्या कर बैठे। उसके अविवेक एवं दुराग्रही स्वभाव से उसके विट एवं चेट भी शंकित रहते है। वह इतना अविवेकी है कि दीवार के ऊपर से भी गाड़ी को लाने की मूर्खतापूर्ण आज्ञा देता है। गाड़ी के आने पर पहले विट से चढने के लिए कहता है और जब विट चढना चाहता है तो उसे गाली देकर (तुह वप्पकेलके पव्हणे ? जेण तुमं अग्ग दो अहिलुअशि—क्या तुम्हारे बाप की गाड़ी है ? जो तुम मुझसे पहले गाड़ी पर चढ़ते हो) उसकी अवज्ञा करता है। बेचारे विट को उदरपूर्ति के लिए विवश होकर उसके यहाँ रहना पड़ता है। वह वीर इतना है कि गाड़ी मे स्त्री को देखकर भयभीत हो जाता है और उसे दु ख है कि स्त्री की हत्यारूपी उसके वीरता के कार्य को देखने के लिए उसकी माँ उपस्थित नही है।

वह वैसे तो मूर्ख है किन्तु षड्यन्त्र-निर्माण मे अपनी चतुरता का परिचय देता है। कौशल से विट को हटाकर वसन्तसेना का गला घोट देता है और जब विट आकर उसके इस कृत्य की भर्त्सना करता है तो हत्या का आरोप उसी के सिर लगाकर उसे भयभीत कर देता है और चेट को बाँधकर डाल देता है। जब चेट किसी प्रकार छूटकर रहस्य का उद्घाटन करता है तो उस पर चोरी का आरोप लगा देता है और उसे आभूषण देकर मौन करना चाहता है। जब चेट कहता है कि यह मुझे आभूषणो का प्रलोभन दे रहा है तो वह चोरी को पुष्ट कर देता है। न्यायाधीशो से कहता है कि यही आभूषण इसने चुराये है तभी मैने इसे मारा है इसलिए यह झूठ बोल रहा है। इस प्रकार धूर्तता मे उसकी बुद्धि चलती हुई दिखाई पड़ती है। लेखक ने जहाँ चारुदत्त के चरित्र मे उत्तम गुणो का विधान किया है, वहाँ उसी कौशल के साथ शकार मे दुर्गुणो की सृष्टि की है। शकार के दूषित चरित्र के अंकन मे भी लेखक को अपूर्व सफलता मिली है।

पुरुष पात्रों में चारुदत्त का अन्तरंग मित्र मैत्रेय विदूषक भी विशिष्ट स्थान रखता है। मैत्रेय मे स्वार्थभावना किञ्चित्मात्र भी नही है।

सम्पन्नावस्था मे चारुदत्त के यहाँ ही सुस्वादु भोजन करनेवाला मैत्रेय दरिद्रावस्था मे उसका साथ नही छोड़ता। वह अन्यत्र अपनी उदरपूर्ति करके भी सन्ध्या को चारुदत्त के समीप आकर ठहरता है। इसी कारण चारुदत्त उसे सर्वकाल मित्र (सर्वकालं मित्रं मैत्रेय प्राप्तः) कहता है। चारुदत्त के प्रति उसका वास्तविक एवं प्रगाढ़ प्रेम है। वह किसी भी प्रकार चारुदत्त का अपमान नही देखना चाहता। वसन्तसेना के आने पर तेल न होने की बात वह कान मे ही कहता है जिससे चारुदत्त की दरिद्रता सभी पर खुलने न पावे। चारुदत्त के प्रति असत्य अभियोग लगाने के कारण वह शकार से लड़ पड़ता है और जब चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया जाता है तो वह उसके बिना जीवित नही रहना चाहता। वह कहता है—"ण सक्कुणोमि पिअवअस्सविरहिदो पाणाइ धरिदुंत्ति।"—'प्रिय मित्र के बिना मै अपना प्राण धारण नही कर सकूँगा।' मैत्रेय पेटू ब्राह्मण भी है तथा हास्यप्रिय व्यक्ति है। शकार का हास्य मूर्खतापूर्ण है किन्तु मैत्रेय का हास्य बुद्धिमानी से भरा हुआ है। उसकी मूर्खता का परिचय केवल एक स्थान पर मिलता है, जब कि वह विट के साधारण प्रश्नो का भी उत्तर नहीं दे पाता। वह डरपोक भी है। डर के कारण अकेला देवताओ की बलि देने नही जाता और न रात्रि मे वसन्तसेना को उसके घर भेजने जाता है। विदूषक एक सामान्य कोटि का ही व्यक्ति है। उसमे चारुदत्त जैसी महानता और मनुष्य को परखने की शक्ति नही। तभी तो वह वसन्तसेना के प्रेम को समझ नही पाता और चोरी होने पर चारुदत्त को असत्य भाषण का परामर्श देता है। अन्य पात्रो मे प्रेमी हृदय शर्विलक भी आकर्षक पात्र है। यद्यपि वह अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के निमित्त चोरी करता है तथापि उसकी चौर क्रिया से ज्ञात होता है कि उसे चोरी की नियमित शिक्षा प्राप्त है तथा वह इस कार्य मे अभ्यस्त भी है। उसके चरित्र मे भी एक विशेषता है और वह यह कि अपने मित्र आर्यक की मुक्ति के निमित्त कठिनाई से प्राप्त की हुई अपनी प्रेमिका एवं पत्नी मदनिका तक को छोड़ जाता है। बुद्धिमान्

एवं सहृदय विट विवशतावश शकार के यहाँ रहता हुआ भी चारुदत्त एवं वसन्तसेना के प्रति हार्दिक स्नेह रखता है। शकार द्वारा पीछा किया जाने पर वसन्तसेना को सचेत करता जाता है और चारुदत्त तथा उसके प्रेम की प्रशंसा करता है। बौद्ध भिक्षु संवाहक का चरित्र भी आकर्षक है। वह चारुदत्त का भूतपूर्व सेवक है। दरिद्रता के कारण अब चारुदत्त के यहाँ नही रहता। फिर भी चारुदत्त की उदारता को विस्मृत नही कर पाता। द्यूतक्रीड़ा से अपनी आजीविका प्राप्त करता है, किन्तु वसन्तसेना की दया उसका हृदय-परिवर्तन कर देती है और बौद्ध भिक्षु बन जाता है। अन्त मे वसन्तसेना की प्राणरक्षा करके प्रत्युपकार करता है। अन्य पुरुष पात्रो मे द्यूतकार समिक और माथुर, राजकर्मचारी चन्दनक और वीरक, आर्यक और चण्डालो के चरित्र भी प्रभावोत्पादक है और अपनी सीमा मे सफल है।

नारी पात्रो मे धूता का चरित्र विशेष आकर्षक है। वह एक पति-परायणा साध्वी नारी है। पति के विश्वास की रक्षा के निमित्त अपनी रत्नमाला सहर्ष दे देती है। वसन्तसेना के प्रति भी उसके हृदय मे ईर्ष्या या जलन नाम मात्र को भी नहीं। पति के मृत्युदण्ड का समाचार जानकर जीवित जलने में ही अपने जीवन की सफलता समझती है। वसन्तसेना की दासी, शर्विलक की प्रेयसी मदनिका का चरित्र भी प्रभावपूर्ण है। वह वसन्तसेना की अन्तरंग सखी के सदृश है, क्योकि वसन्तसेना अपने प्रेम को उसी से बताती है। मदनिका चारुदत्त के यहाँ शर्विलक के चोरी करने पर दुःखी होती है तथा उसे सत्परामर्श देती है। वह एक वीर पत्नी हैं। अपने प्रियतम को कर्तव्य की, मित्ररक्षा की प्रेरणा ही देती है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रकरणकार ने अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण मे अपूर्व सफलता प्राप्त की है और जो जैसा पात्र है, उसी के अनुरूप उसके चरित्र मे विशेषताओ का समावेश किया है।

रस-परिपाक—इस प्रकरण मे चारुदत्त एवं गणिका वसन्तसेना के प्रेम का चित्रण किया गया है। गणिका को आचार्यो ने सामान्या नायिका की कोटि मे रखा है। सामान्या नायिका के प्रेम मे आत्मार्पण की भावना नही होती। इसलिए उसका प्रेम शृङ्गार रस की कोटि तक नही पहुँचता। उसे रसाभास ही कहा जाता है। किन्तु वसन्तसेना 'वापीव, लतेव, नौरिव' सर्वभोग्या नही है और न उसका प्रेम वैभव एवं सम्पत्ति पर आधारित है। वह एक कुलीन नारी के सदृश एक ही व्यक्ति मे उसके गुणो के कारण अनुरक्त है। उसका प्रेमी दरिद्र है। वह अपने त्यागमय अनन्य प्रेम के बल से वधू के गौरवान्वित पद को प्राप्त करती है। इसलिए उसका प्रेम रस की कोटि मे अवश्य ही आवेगा। गुणश्रवण एवं सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न यह प्रेम पूर्वानुराग की श्रेणी मे आयेगा। चारुदत्त के गुणो पर मोहित होकर वसन्तसेना ने कई बार कहा है—'अतएव काम्यते'। गुणो के साथ-साथ वह रूपसम्पन्न भी है। यद्यपि वसन्तसेना के मुख से उसके रूप का वर्णन कही नही हुआ है तथापि वह कामदेवायतनोद्यान मे उसके रूप को देखकर ही अनुरक्त हुई होगी। अतएव उसके रूप की झाँकी देना आवश्यक है। संवाहक उसे 'प्रियदर्शन' और आर्यक 'दृष्टिरमणीय' कहता है। न्यायाधीश उसकी प्रशंसा इन शब्दो मे करता है :—

"घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रं
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्" ॥९-१६॥

'उन्नत नासिका एवं प्रान्तभाग तक फैले हुए विशाल नेत्रो से युक्त (सुन्दर) मुखवाला चारुदत्त अकारण दोष का पात्र नही हो सकता। हाथी, गौ, अश्व तथा मनुष्य मे उनके आकार अपने अनुकूल चरित्र का परित्याग नही करते अर्थात् 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।' इसी गुण-सौन्दर्य के साक्षात् स्वरूप चारुदत्त पर वसन्तसेना अनुरक्त है।

चारुदत्त की प्रेयसी वसन्तसेना भी रूपयौवन-सम्पन्ना नारी है। उसकी मदमाती गति के साथ सौन्दर्य की व्यञ्जना निम्न छन्द मे किस सरसता एवं सुन्दरता के साथ की गई है :—

"किं यासि बालकदलीव विकम्पमाना
रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती।
रक्तोत्पलप्रकरकुड्मलमुत्सृजन्ती
टङ्कैर्मनःशिलगुहेव विदार्यमाणा" ॥१-२०॥

'(हे वसन्तसेना) पवन से फहराते हुए चंचल एवं लाल वस्त्र को धारण किये हुए, नवीन केले के समान कॉपती हुई क्यो जा रही हो ? तुम चलती हुई रक्तकमल की कलियो के समूह को छोड़ती हुई ऐसे जा रही हो जैसे छेनी से मनःशिल की गुहा को विदीर्ण किया गया हो, जिसका लाल मनःशिल इधर-उधर बिखर रहा हो।' इसमे जहॉ विकम्पमाना गति शृंगार की मादकता व्यञ्जित करती है, वहॉ रक्तोत्पलप्रकर-कुड्मल उत्सृजन्ती से उसके रक्ताभ चरणो का आभास मिलता है, जो उसकी कोमलता एवं स्वस्थता के अभिव्यञ्जक है। ऐसी सुन्दरी एवं उज्जयिनी की विभूषणस्वरूपा नारी के प्रति अनुरक्ति का होना स्वाभाविक ही है।

शृंगार के सम्भोग एवं विप्रलम्भ दोनो पक्षो का वर्णन 'मृच्छकटिक' मे मिलता है। प्रियतम के यहॉ से आकर वसन्तसेना निरन्तर विरह-व्यथा के कारण उद्विग्न रहती है। उसके खाने-पीने, स्नान-पूजन आदि दैनिक क्रम मे भी व्यतिक्रम हो जाता है। इसी कारण वह दासी से कहती है—'हञ्जे ! विण्णवेहि अत्तं अज्ज ण ण्हाइस्स, ता वम्हणो ज्जेव पूअं णिव्वत्तेदुत्ति।"—'दासी, माताजी से कहो कि आज मै स्नान नही करूँगी। अत ब्राह्मण ही पूजा कर लें।' वही वसन्तसेना प्रियमिलन की उत्कण्ठा मे सन्ध्याभिसारिका बनकर जाती है कि अचानक घनघोर वर्षा होने लगती है। वर्षा से युक्त वह निशा उसे प्रियमिलन मे बाधिका

प्रतीत होती है। वह उसे सपत्नी के सदृश लगती है। इसीलिए वह कहती है :—

"मूढे निरन्तरपयोधरया मयैव,
कान्त' सहाभिरमते यदि किं तवात्र।
मां गर्जितैरिति मुहुर्विनिवारयन्ती,
मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशासपत्नी" ॥५-१५॥

'सपत्नी के समान क्रोधित होती हुई यह रात मेघ-गर्जन से बार-बार मेरे पथ को रोकती हुई मानो मुझसे कह रही है कि हे मूर्खे! जब प्रियतम गम्भीर मेघोवाली (पुष्ट स्तनोवाली) मुझसे (तेरी सपत्नी से) रमण करता है तब तुम्हारा यहाँ क्या है?' और कभी मेघो से सशल्य उसके हृदय को वको का शब्द घाव पर नमक के समान प्रतीत होता है। इसीलिए वह वको को कोसती हुई कहती है :—

"एतैरेव यदा गजेन्द्रमलिनैराध्यातलम्बोदरै-
र्गर्जद्भिः सतडिद्वलाशबलैर्मेघैः सशल्यं मनः।
"तत् किं प्रोषितभर्तृ-वध्य-पटहो,हा हा हताशो वकः
प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः क्षारं क्षते प्रक्षिपम्" ॥५-१८॥

'गजराज के समान श्याम, जलपूरित होने के कारण विशाल उदरवाले, विद्युत् एवं वकपंक्ति द्वारा चित्रित तथा गर्जना करते हुए मेघो से जब वियोगियो के हृदय मे शूल चुभ रहे है तब हाय, हे 'हताश एवं मूर्ख वक परदेशी विरही पतियो के वध के समय बजनेवाले नगाडे के समान वर्षा-वर्षा की रट लगाते हुए घाव पर नमक क्यो छिड़क रहे हो।'

नारी की वेदना के प्रति नारी को ही सहानुभूति एवं संवेदना होती है। पुरुष तो स्वभावतः कठोर होता ही है। लेकिन यहाँ आश्चर्य है कि नारी भी नारी के दुःख को नही समझ रही है। प्रिय-मिलन में बाधक मेघो से पीड़ित वसन्तसेना विद्युत् से नारी हृदय की कोमलता को जगाते हुए कहती है :—

"यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषा ।
अयि विद्युत् ! प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि" ॥२-३२॥

'यदि बादल गरजते है तो गर्जने दो क्योकि पुरुष तो निष्ठुर होते ही है। किन्तु हे विद्यु त् ! तुम भी कामिनियो के दुःख को नही जानती हो।'

यही मेघ जो वियोगावस्था मे पीडाजनक होते है, सयोग के क्षणो में वरदान के सदृश सिद्ध होते है। मेघो ने चारुदत्त के काम को उद्दीप्त कर दिया है और वह वसन्तसेना के आलिगन सुख का सामान्य से अधिक अनुभव कर रहा है। तभी तो मेघ से कहता है :—

"भो मेघ ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे ।
सस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्" ॥५-४७॥

'हे मेघ ! तुम और भी गम्भीर गर्जन करो क्योकि तुम्हारी कृपा से काम-पीड़ित मेरा शरीर वसन्तसेना के स्पर्श से पुलकित एवं रागमय होकर कदम्ब के पुष्प के सदृश हो जाता है।

चारुदत्त वर्षा से भीगी हुई वसन्तसेना का आलिगन करके अपने जीवन को धन्य मानता है। वह अपने हर्षोद्गार को इन सरस, सुन्दर एवं कोमल शब्दो मे व्यक्त करता है :—

"धन्यानि तेषां खलु जीवितानि ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति" ॥५-४९॥

'उन प्रेमियो का जीवन निश्चित रूप धन्य है, जो घर पर आई हुई कामिनियो के, वर्षा के जल से भीगे हुए एवं शीतल शरीर को अपने शरीर से आलिगित करते है।'

इस प्रकार हम देखते है कि शृ गार रस के संभोग एवं विप्रलम्भ दोनो पक्षो के सरस चित्र हमे 'मृच्छकटिक' मे मिलते है।

'मृच्छकटिक' मे दूसरा स्थान करुण रस का है। अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की हानि से करुणा का उद्रेक होता है, जिसका वर्णन काव्य मे करुण रस की सृष्टि करता है। चारुदत्त की सम्पति की समाप्ति की

पीड़ा न केवल उसे है, अपितु समस्त उज्जयिनी को उससे दुख है। प्रथम अंक मे दारिद्र्यजनित करुण दशा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन प्रकरणकार ने किया है तथा अन्य अको मे भी स्थान-स्थान पर करुणा के छीटे दृष्टिगत होते है। चारुदत्त को अपनी दरिद्रता का शोक नही है। क्योकि धन तो आता जाता रहता है। उसे दुःख है दरिद्रता के परिणाम के कारण :—

"दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते,
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृद स्फारीभवन्त्यापद।
सत्त्वं ह्रासमुपैति, शीलशशिनः कान्ति परिम्लायते,
पापं कर्म च यत् परैरपि कृत तत्तस्य सम्भाव्यते" ॥१-३६॥

'दरिद्रता के कारण मनुष्य के बन्धु बान्धव उसकी बात नही सुनते। अत्यन्त प्रिय मित्र भी विमुख हो जाते है, आपत्तियाँ बढ जाती है, शक्ति क्षीण हो जाती है, शीलरूपी चन्द्रमा की कान्ति मलिन हो जाती है और अन्यकृत पाप कर्म भी उसी पर आरोपित हो जाता है।'

करुण रस का परिपाक हमे शकार द्वारा वसन्तसेना का गला घोटने पर विट के विलाप मे भी अनुभूत होता है। विट रुदन करता हुआ कहता है :—

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेशं रति,
हा हालंकृतभूषणे! सुवदने! क्रीडारसोद्भासिनि!
हा सौजन्यनदि! प्रहासपुलिने! हा मादृशामाश्रये!
हा हा नश्यति मन्मथस्य विपणि सौभाग्यपण्याकरः" ॥८-३८॥

'हा, अलंकारो को सुशोभित करनेवाली, सुमुखी, लीला रस को प्रवाहित करनेवाली, हास्यरूपी किनारोवाली सज्जनता की सरिता एवं दयारूपी जल को प्रवाहित करनेवाली नदी लुप्त हो गई। हा, रति अपने देश को चली गई। हा, हा सौभाग्यरूपी विक्रेय द्रव्य की निधि नष्ट हो गई और कामदेव का बाजार लुट गया।'

इसी प्रकार चारुदत्त के यहाँ चोरी होने के समाचार को

सुनकर वसन्तसेना और मदनिका के मूर्च्छित होने मे, चारुदत्त को मृत्यु-दण्ड मिलने पर अपने कुल मे कलंक लगने के कारण उसकी वेदना के वर्णन मे, उसके पुत्र तथा मैत्रेय को रुदन मे, धूता के अग्नि-प्रवेश के समाचार को सुनकर चारुदत्त की मूर्च्छा के वर्णन मे करुण रस की व्यञ्जना हुई है।

कवि ने विदूषक एवं शकार जैसे पात्रो की सृष्टि करके हास्य रस की योजना की है। विदूषक के हास्य मे केवल एक ही स्थान पर उसकी अज्ञता कारण बनती है, जहाँ वह चेट के प्रश्नो का उत्तर नही दे पाता है और उसके अभिप्राय को न समझकर हास्यजनक अभिनय करता है। देखिए :—

"चेट—अले ! दुवे वि एक्कश्शि कदुअ शिग्घं भणाहि।
विदूषक—सेणावसन्ते।
चेट—णं पलिवत्तिअ भणाहि।
विदूषक—(कायेन परिवृत्य) सेणावसन्ते।
चेट—अले मुक्ख बडुका ! पदाइं पलिवत्तावेहि।
विदूषक—(पादौ परिवर्त्य) सेणावसन्ते।
चेट—अले मुक्ख ! अक्खल पदाइं पलिवत्तावेहि।
विदूषक—(विचिन्त्य) वसन्तसेणा।"
"चेट—अरे, दोनो को (वसन्त और सेना) एक साथ शीघ्र बोलो।
विदूषक—सेनावसन्त।
चेट—अरे, उलटकर कहो।
विदूषक—(शरीर को बदलकर) सेनावसन्त।
चेट—अरे मूर्ख वटुक ! पद परिवर्तन करो।
विदूषक—(पैरो को परिवर्तित करके) सेनावसन्त।
चेट—अरे मूर्ख, अक्षरो के पद का परिवर्तन करो।
विदूषक—(सोचकर) वसन्तसेना।"

विदूषक की इन चेष्टाओ को देखकर दर्शक हँसते-हँसते लोट पोट

हो जायगा। अन्यत्र विदूषक का हास्य बुद्धिमानी से पूर्ण है। शकार द्वारा जिस हास्य की योजना की है वह सर्वत्र मूर्खतापूर्ण है। यहाँ तक कि चारुदत्त की श्मशान यात्रा की भीड़ को देखकर वह कहता है—"ही ही! एदाह दलिद्द-चालु-दत्ताह बज्भं णीअमाणाह एवड्ढे जणशम्मद्दे, जंवेलं अम्हालिशे पवले वलमणुश्शे बज्भं णीअदि, तं वेलं कीदशे भवे ?" —'अहा, इस दरिद्र चारुदत्त को वध के लिए ले जाते समय जन-समुदाय का ऐसा कोलाहल! जिस समय मेरे सदृश वीर और श्रेष्ठ पुरुष वध के लिए ले जाये जायेंगे उस समय कितना अधिक कोलाहल होगा।' शकार की इसी प्रकार की युक्तियाँ तथा उसके पौराणिक अज्ञान की सूचिका उक्तियाँ हास्य की सृष्टि करती है।

वसन्तसेना के हाथी के उन्मत्त होने पर जो भगदड़ मच जाती है, उसके वर्णन मे भयानक रस का परिपाक हुआ है। स्त्रियो की दशा का कैसा सजीव वर्णन किया है :—

"विचलइ णेउर जुअल छिज्जन्ति अ मेहला मणिक्खइआ।
बलआ अ सुन्दरदरा रअंकुर जाल पडिबद्धा" ॥२-१६॥

'(स्त्रियो) के दोनो नूपुर विचलित हो गये, मणिखचित मेखला टूटने लगी और रत्नो के समूह से जटित सुन्दर कङ्कण टूटने लगे।' हाथी से भयभीत होकर स्त्रियाँ भागने लगी। इसी से उनकी यह दशा हो गई।

यदि शान्त-रस का आस्वाद ग्रहण करना हो तो बौद्ध भिक्षु की इस उक्ति को देखिए :—

"पञ्चज्जण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअगामलक्खिदे।
अवल अचण्डाल मालिदे अवसविशे णल शग्ग गाहदि" ॥८-२॥

'जिस पुरुष ने पाँच व्यक्तियों को (पंच इन्द्रियो को) मार दिया (वश मे कर लिया), स्त्री (अविद्या) को मारकर ग्राम (आत्मा) की रक्षा कर ली तथा निर्बल (अविद्या के नाश से शिथिलीभूत) चाण्डाल (अहङ्कार अथवा काम) को मार दिया, वह अवश्य ही स्वर्ग मे जाता है।

इन रसो के अतिरिक्त चारुदत्त के चरित्र से दानवीर का, शर्विलक द्वारा आर्यक को मुक्त करने के लिए जाने के वर्णन मे युद्धवीर का आभास मिलता है। मदमत्त गज से कर्णपूरक द्वारा भिक्षु की रक्षा करने के वर्णन मे अद्‌भुत रस दिखाई पड़ता है।

कवि ने अपने प्रकरण मे भाव शान्ति और भावोदय का भी सुन्दरता से आस्वाद कराया है। वध के योग्य वस्त्रो को पहनकर जिस समय चारुदत्त को वधस्थल पर चाण्डालो द्वारा घोषणा करते हुए ले जाया जा रहा है, उस समय करुण भावना अपने गम्भीरतम रूप मे छाई रहती है। किन्तु वसन्तसेना के अप्रत्याशित आकस्मिक आगमन से विषाद-पूर्ण वातावरण आनन्द मे परिवर्तित हो जाता है। चारुदत्त के इस कथन मे भावोदय का सुन्दर निदर्शन होता है :—

"रक्त' तदेव वरवस्त्रमिदं च माला,
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव,
जाता विवाहपटहध्वनिभि' समाना" ॥१०-४४॥

'प्रियतमा के आगमन के समय अर्थात् विवाह के समय जिस प्रकार वर के शरीर पर वस्त्र और माला सुशोभित होती है, उसी प्रकार (तुम्हारे—वसन्तसेना—के आगमन से) मेरे शरीर पर यह लाल वस्त्र और माला सुशोभित है तथा वध के समय की यह नगाड़ो की ध्वनि विवाहकालीन नगाड़ो की ध्वनि के समान हो गई है।'

'मृच्छकटिक' के प्रणेता ने यद्यपि रस-परिपाक की अपेक्षा नाट्य एवं अभिनय पर अधिक ध्यान दिया है तथापि उसकी काव्य-प्रतिभा का प्रस्फुटन भी मिलता है। कवि की अन्तर्दृष्टि मानव-मन मे पैठकर उसके सूक्ष्मतम भावो को भी खीचकर बाहर ले आती है। ऐसा ज्ञात होता है कि उसे मनोविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान है। तभी तो छोटे छोटे भावो की व्यञ्जना करने मे वह सफल हुआ है। चोर के शकालु हृदय का स्वाभाविक वर्णन कवि ने किस सफलता से किया है :—

"य. कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां सम्भ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा ।
त सर्व तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः" ॥४-२॥

'जो कोई शीघ्रगामी मुझ भयभीत को देखता है अथवा मुझे स्थित देखकर द्रुत गति से मेरी ओर आता है, उन सबको मेरी दूषित अन्तरात्मा सशंक देखती है। क्योकि मनुष्य अपने ही दोषो से शंकित होता है।'

इस प्रकार हम कवि को रस-परिपाक एवं भाव-योजना मे सफल पाते है।

प्रकृति-चित्रण—'मृच्छकटिक' मे प्रकृति का स्वतन्त्र रूप दृष्टिगत नही होता है। कतिपय आलोचको के अनुसार मृच्छकटिक के कर्ता ने जान बूझकर प्रकृति-वर्णन के प्राप्य अवसरो को खो दिया है। अष्टम अक मे जीर्णोद्यान का वर्णन करते हुए प्रकृति-चत्रण का उसे सुयोग प्राप्त था, किन्तु उससे कवि ने लाभ नही उठाया है। वास्तविकता यह है कि प्रकरणकार की दृष्टि नाटकीयता पर ही रही है। उसने प्रकृति-वर्णन को विस्तार देकर प्रकरण की स्वाभाविक गति मे शैथिल्य उत्पन्न नहीं किया है। पञ्चम अंक मे, जहाँ उसकी काव्य-प्रतिभा प्रकृति के साथ खेली है, वहाँ कवित्वजनित रस की धारा तो अवश्य प्रवाहित हो गई है किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से शैथिल्य आ गया है। फिर भी कवि ने अपने वर्णन द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि उसके हृदय मे भी प्रकृति के लिए स्थान है, वह प्रकृति से नितान्त उदासीन नही है।

पञ्चम अंक मे प्रकृति शृंगार रस के उद्दीपन के रूप मे आई है और इस दृष्टि से कवि ने उसका सफल चित्रण किया है। 'रस-परिपाक' की विवेचना करते समय प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप के चित्र उपस्थित किये जा चुके है। अतएव पिष्टपेषण द्वारा व्यर्थ विस्तार काम्य नही है। उसी अंक मे प्रकृति विविध अलंकारो से परिवेष्टित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को खो बैठी है। कही तो मेघ विष्णु भगवान् के सदृश

दिखाई पड़ते हैं, कहीं वर्षाकाल दुर्योधन के राज्य जैसा लगता है, कहीं बादल किसी राजा के समान अपना आतंक दिखाता हुआ शत्रु-विजय करता प्रतीत होता है, कही वह मत्त गजेन्द्र सा विचरण करता है तथा कही आकाश भस्म होता हुआ, हँसता हुआ, युद्ध करता हुआ, क्रोधित होता हुआ, सिहनाद करता हुआ और सर्प के समान धूमपान करता हुआ प्रतीत होता है। फिर भी वर्षाकालीन प्रकृति के कुछ रम्य एवं स्वाभाविक चित्र भी अङ्कित हुए है। विद्युत् से युक्त, वक-पंक्ति सें सुशोभित मेघो से पूर्ण आकाश का चित्रण साङ्गरूपक की सहायता से किस प्रकार किया गया है :—

"मेघो जलार्द्रमहिपोदरभृङ्गनीलो,
विद्युत्प्रभा-रचित-पीतपटोत्तरीयः।
आभाति संहतबलाक-गृहीतशङ्खः,
खंकेशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः" ॥५-२॥

'जल से सिक्त महिष के उदर एवं भृङ्ग के समान नील वर्ण मेघ, विद्युत् की कान्ति से निर्मित पीताम्बर धारण करके वकपंक्तिरूपी शङ्ख लेकर दूसरे विष्णु (वामन) के समान आकाश मे व्याप्त होने के लिए प्रवृत्त हो गया है।' बादलो के उठने, फैलने, गरजने, बरसने आदि का स्वाभाविक वर्णन देखिए :—

"उन्नमति, नमति, वर्षति, गर्जति मेघ. करोति तिमिरौघम्।
प्रथमश्रीरिव पुरुप. करोति रूपाण्यनेकानि" ॥५-२६॥

'मेघ कभी तो ऊपर उमड़ता है, कभी नीचे को झुक जाता है, कभी वर्षा करता है, कभी केवल गरजता है और कभी घना अंधकार कर देता है। इस प्रकार पहले-पहल सम्पत्ति प्राप्त किये हुए पुरुष के समान अनेक रूप धारण करता है।'

मेघ आकाश मे छाकर विभिन्न प्रकार की विचित्र आकृतियाँ धारण कर लेते हैं, जो कभी किसी-प्रकार के और कभी किसी प्रकार के लगते हैं। कवि ने मेघो के कतिपय रूपो की झाँकी इस प्रकार कराई है :—

ससक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रणीनैरिव
व्याविद्धैरिव मीनचक्रमकरैर्हर्म्यैरिव प्रोच्छितैः ।
तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मेघैः समभ्युन्नतैः
पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगनं विश्लेषितैर्वायुना" ॥५-५॥

'कही दो मेघ-खंड चक्रवाक के संयुक्त जोडे के समान, कही उड़ते हुए हसो के समान, कही क्षुब्ध सागर से निकले हुए मीन तथा मकर-समूह के समान और कही उन्नमित प्रासादो के समान लगते है। वायु के द्वारा इधर-उधर छिटककर अनेको प्रकार की आकृतियाँ बदलते हुए उन्नत मेघ चित्रपट पर अङ्कित चित्रो के सदृश आकाश मे सुशोभित हो रहे है।'

अन्धकार की गहनता का एक चित्र और देकर इस विवेचन को समाप्त किया जाता है। बढता हुआ अन्धकार कैसा प्रतीत होता है :–

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभ ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता" ॥१-३४॥

'अन्धकार अंगो मे व्याप्त जैसा हो रहा है, आकाश मानो कज्जल की वर्षा कर रहा है। असज्जन की सेवा के समान दृष्टि निष्फलता को प्राप्त हो गई है।'

इन वर्णनो से ज्ञात होता है कि कवि को प्रकृति से अनुराग अवश्य रहा है किन्तु नाटकीय कला की रक्षा के कारण वह उसे सीमित स्थान ही दे पाया है।

तत्कालीन दशा—कवि या साहित्यकार जिस युग मे जन्म ग्रहण करता है और जिस युग की परिस्थितियो मे उसका मानसिक विकास होता है, यह युग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसकी लेखनी पर आ विराजता है और उसकी रचना द्वारा वह अभिव्यक्त हो जाता है। 'मृच्छकटिक' से भी तत्कालीन दशा का आभास मिलता है।

'मृच्छकटिक' के कथानक का सम्बन्ध उज्जयिनी से है। उस समय

उज्जयिनी की राजनैतिक अवस्था उन्नत नहीं थी। राजा की विलासिता एवं अदूरदर्शिता के कारण अराजकता फैली हुई थी। राजा अपने नैतिक आदर्श से च्युत हो गये थे। विलासमयी भावनाओ ने उनका चारित्रिक पतन कर दिया था। इसी कारण वे राजमहिषियो के अतिरिक्त निम्न जाति तक की रखैलियाँ रखते थे। राजा पालक के यहाँ इसी प्रकार की रखेली (शकार की बहिन) थी। शकार के लिए काणेली मातृक (व्यभिचारिणी का पुत्र) शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है उसका वंश अज्ञात तथा निम्न कोटि का है। ऐसी माँ की पुत्री से राजा का सम्बन्ध होना कितना अशोभनीय है। राजा निरंकुश भी था। इसी से न्याय-विधान शिथिल था। राजा के ये निम्न वर्गीय सम्बन्धी राजशक्ति की आड़ मे मनमाना अत्याचार करते थे तथा न्यायाधीशो से भी पदच्युत करने की धमकी देकर अपने मनोनुकूल न्याय कराते थे। शकार ने चारुदत्त के विरुद्ध ऐसा ही न्याय कराने का प्रयत्न किया है। यदि न्यायाधीश किसी प्रकार नीति के अनुकूल भी राज्य करते थे, तो राजा अपनी इच्छा से उसको अमान्य घोषित करके जैसा चाहते थे, कराते थे। इसके अतिरिक्त राज्य मे अव्यवस्था थी। सन्ध्या के समय राजमार्गो पर सम्भ्रान्त महिलाओ का निकलना असम्भव था। क्योंकि उस समय चोर, लम्पट, जुआरी, वेश्या तथा विट आदि घूमा करते थे (एतस्या प्रदोष बेलाया इह राजमार्गे गणिका विटाश्चेटा राज-वल्लभाश्च पुरुषा सचरन्ति)। यही कारण था कि राजा को अपने विरुद्ध षड्यन्त्र का भय बना रहता था और वह सन्देहास्पद व्यक्ति को बिना किसी आरोप के बन्दी बना लेता था। गोपालदारक को इसी प्रकार बन्दी बना लिया गया था। राजा की इस अनीति के कारण ही राज-विद्रोह हो जाता था और उस विद्रोह मे चोर, लम्पट, राजा द्वारा अप-मानित व्यक्ति तथा असन्तुष्ट राजकर्मचारी आदि सम्मिलित हो जाया करते थे। मृच्छकटिक मे इसी प्रकार के राजविद्रोह का वर्णन मिलता है:—

"ज्ञातीन्विटान्भुजविक्रमलब्धवर्णान्,
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः" ॥४-२६॥

'जिस प्रकार उदयन की मुक्ति के लिए यौगन्धरायण ने प्रयत्न किया था, उसी प्रकार मै अपने मित्र के उद्धार के लिए राजा के कुटुम्बी, धूर्त, अपनी भुजा के पराक्रम से विख्यात वीर, राजापमान से क्रुद्ध व्यक्ति तथा राजकर्मचारियो को राजा के विरुद्ध उत्तेजित करूँगा।' उस समय दण्डविधान कड़ा था। सच्ची बात कहलाने के लिए कोडे लगाये जाते थे। मृत्युदण्ड के लिए अपराधी का विशेष वेष बनाकर चाण्डालो द्वारा खुले स्थान मे ले जाया जाता था। कई प्रकार से मृत्युदण्ड दिया जाता था

उस समय की सामाजिक दशा भी अधिक श्लाघ्य नही थ । यद्यपि वर्ण व्यवस्थानुसार ब्राह्मणो का सम्मान होता था। किन्तु ब्राह्मण अपना कार्य छोड़कर व्यापार भी करने लगे थे। चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए भी सार्थवाह था। सामान्यतः आर्थिक दृष्टि से जनता समृद्ध थी। चारुदत्त स्वयं सम्पत्तिशाली व्यक्ति था, जो दान देते-देते निर्धन हो गया था। गणिका वसन्तसेना के अष्टप्राङ्गणीय विशाल भवन के वैभवपूर्ण वर्णन और उसके 'खुण्टमोडक' हाथी से उसकी समृद्धि का ज्ञान होता है तथा समाज मे गणिकाओ के सम्माननीय स्थान का भी पता चलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय गणिकाये वेश्याओ से भिन्न थी। वेश्याये अपने रूप-यौवन के मुक्तदान से अपनी आजीविका प्राप्त करती थी और गणिकायें अपनी कला-प्रदर्शन द्वारा। वसन्तसेना ऐसी ही गणिका थी। गणिकायें अपना कार्य छोड़कर विवाह भी कर लेती थी और उच्चवर्ग के व्यक्ति भी उन्हे अपनी कुलवधू बना लेते थे। मृच्छकटिक मे वसन्तसेना और मदनिका क्रमशः चारुदत्त और शर्विलक की कुलवधू बन जाती है। सम्पन्न परिवारो के बालक सोने की गाड़ियो से खेलते थे। इसी से

समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। स्त्रियाँ नूपुर, वलय, मेखला, रत्नमाला आदि आभूषण धारण करती थी तथा अपने केशो को पुष्प-मालाओ से सज्जित करती थी। सती-प्रथा का भी सम्भवतः प्रचलन था। तभी तो धूता चारुदत्त के मृत्युदण्ड के समाचार को सुनकर अग्नि-प्रवेश करती है।

'मृच्छकटिक' की रचना के समय देश मे दास प्रथा का प्रचलन भी था। दास अपने स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे। उनका क्रय-विक्रय होता था। दासो की मुक्ति या तो स्वामी की प्रसन्नता से या निश्चित धन देने से हो सकती थी। चारुदत्त अपने दास स्थावरक चेट को स्वयं ही मुक्त कर देता है (सुवृत्त, अदासो भवतु) और दासी मद-निका की मुक्ति के निमित्त धनंप्राप्ति के लिए शर्विलक को चोरी करनी पड़ती है। उस समय द्यूतक्रीड़ा अवैध नही थी। सम्भवतः द्यूतक्रीडा के निमित्त द्यूतागारो की व्यवस्था हो। क्योकि द्यूत खिलानेवाले मुखिया समिक का नाम मृच्छकटिक मे आया है। द्यूतक्रीड़ा मे हारने पर विजयी का रुपया न देने पर न्यायालय मे आवेदन प्रस्तुत किया जा सकता था। संवाहक के भाग जाने पर द्यूतकार माथुर से कहता है—'एहि राजकुलं गत्वा निवेदयावः।' कतिपय व्यक्ति द्यूतक्रीड़ा से ही जीविकोपार्जन भी करते थे। संवाहक अपने को 'द्यूतोपजीवी' कहता है। द्यूतक्रीड़ा शायद निन्द्य भी नही समझी जाती थी। तभी तो चारुदत्त जैसा चरित्रवान व्यक्ति अपने को द्यूत मे हारनेवाला स्वीकार कर लेता है, चाहे वह खेलता भले ही न हो। उस समय मदिरा और मास का भी प्रचलन था। शकार वसन्तसेना को मछली खाने का प्रलोभन देता है। 'चौर कर्म' की तो सम्भवतः विधिवत शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मण भी चोरी मे प्रवृत्त देखे जाते है। शर्विलक ब्राह्मण ही था। वह चोरी करने से पूर्व सेंध लगाने का उपयुक्त स्थान खोजता है और कलापूर्ण सेंध लगाकर कृत्रिम पुरुष का प्रवेश कराता है, भूमि मे गड़े हुए धन की जाँच करता है, कीड़ा छोड़कर दीपक बुझवा देता है। इससे ज्ञात होता है कि चोरी भी एक कला समझी जाती थी और उसकी शिक्षा दी जाती थी।

उस समय कलाएँ भी उन्नतावस्था मे थी । गणिकायें तो संगीत और नृत्यकला की प्रतिमा ही समझी जाती थी । किन्तु समाज के सम्भ्रान्त व्यक्ति भी कलाप्रेमी थे। चारुदत्त रेमिल के गान की मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है । उसका स्वर स्त्री के स्वर जैसा कोमल प्रतीत होता है (अन्तर्हिता यदि भवेत् वनितेति मन्ये)। वह वीणा की भी प्रशंसा करता है—'वीणा हिनाम असमुद्रोत्थित रत्नम्' । वीणा के अतिरिक्त 'मृच्छकटिक' मे बाँसुरी, मृदङ्ग, दर्दुर एवं पणव आदि वाद्यो का भी उल्लेख है । संगीत कला के अतिरिक्त चित्रकला का भी प्रचार था । वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र मदनिका को दिखाती है । मूर्तिकला भी उन्नतावस्था मे थी । 'मृच्छकटिक' के द्वितीय अंक मे काष्ठ-प्रतिमा एवं प्रस्तर-प्रतिमा का उल्लेख हुआ है । वसन्तसेना के प्रासाद-वर्णन मे भी विभिन्न कलाओ के नाम आये है । सम्पन्न परिवारो मे वि भन्न पशु-पक्षी पाले जाते थे । भवनो के समीप वाटिकाओ की भी व्यवस्था होती थी ।

उस समय बौद्ध-धर्म और वैदिक धर्म दोनो का प्रचार था । संभवतः वैदिक धर्म ही राजधर्म था और बौद्ध-धर्म ह्रास के पथ पर अग्रसर था । नागरिक गण पूजा-पाठ, पंचमहायज्ञ आदि किया करते थे । व्रत और उपवास आदि मे भी विश्वास था । ब्राह्मणो को दान भी दिया जाता था । चारुदत्त पूजा और समाधि धारण करता हुआ दिखाया गया है और वह गृहदेवताओ को बलि अर्पण करने के लिए बाहर भेजता है । यहाँ तक कि चोर और चाण्डाल भी अपने-अपने देवताओ का स्मरण करते थे । चारुदत्त को मारनेवाले चाण्डाल 'सह्यवासिनी' का स्मरण करते है और शर्विलक चोरी करते समय कुमार कार्त्तिकेय और कनकशक्ति को नमस्कार करता है । बौद्ध भिक्षु काषाय धारण करते थे । उनके विहार बने हुए थे । स्त्रियाँ भी भिक्षुणियाँ होती थी । क्योकि संवाहक भक्षु अष्टम अंक मे वसन्तसेना को एक विहार मे ले जाकर कहता है—'एतस्मिन् विहारे मम धर्म भगिनी तिष्ठति ।' कुछ व्यक्ति सासारिक बाधाओ से ऊबकर भी भिक्षु बन जाते थे । संवाहक भी ऐसा ही भिक्षु था । यद्यपि अभी बौद्धो

का चारित्रिक पतन नही हुआ था तथापि लोग उन्हे शंकित दृष्टि से देखने लगे थे। शैव और शाक्तो का भी उत्थान होने लगा था। इस प्रकरण की नान्दी मे शिव की ही स्तुति की गई है। लोगो का शकुनो पर भी विश्वास था। प्रवहण परिवर्तन के समय वसन्तसेना की दाहिनी आँख फड़कती है और उसे अपशकुन होता है और चा ‘ दत्त को भी वाम नेत्र फड़कने से अपशकुन होता है।

भाषा-शैली—'मृच्छकटिक' की भाषा अत्यन्त सरल एवं प्रसाद गुण-समन्विता है। कवि ने समास प्रधान भाषा नही अपनाई है। जहाँ काव्यत्व है, वहाँ माधुर्य गुण की भी झलक मिलती है। कवि की शैली मे स्वाभाविक सरलता है। उसने कृत्रिमता का समावेश करके शैली को दुरूह बनाने का प्रयत्न नही किया है। उसकी शैली मे वैदर्भी रीति ही अपनाई ज्ञात होती है। मृच्छकटिक की शब्द-योजना पात्रो के अनुकूल भाषा का विधान करती है। कवि ने अपने भावो की अभिव्यञ्जना के लिए नीतिपरक वाक्यावली का अधिकता से प्रयोग किया है। कतिपय अंश तो स्मरण रखने योग्य है। 'क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीद त', 'दुर्लभा गुणा विभवाश्च', अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति', 'शङ्कनीया-हिलोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता', 'स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः', 'साहसे श्री, प्रतिवसति', वेश्याः श्मशान सुमना इववर्जनीया', 'न चन्द्रा-दातपो भवति', 'गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः', 'न कालमपेक्षते स्नेहः', 'विविक्त विश्रम्भरसो हि कामः', 'विपत्ति काले छिद्रे ष्वनर्था बहुली ' भवन्ति', तथा 'नृणा लोकान्तरस्थानां देह प्रतिकृतिः सुत ' जैसे वाक्य कैसे अनुभूतिपूर्ण हैं। इन वाक्यो में जीवन के सत्य स्वरूप समाहित है। कवि ने इस प्रकार क वाक्यावली से अपनी शैली को सज्जित किया है। कहीं कही तो छन्द के छन्द इसी प्रकार के नीतिमय उपदेशो से पूर्ण हैं। यथा—

"शून्यमपुत्रस्य गृहं, चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः, सर्व शून ' दरिद्रस्य" ॥१-८॥

'पुत्रहीन का घर सूना है, जिसके सन्मित्र नही है, वह सदा सूना है, मूर्ख के लिए दिशाये सूनी है और दरिद्र का तो सब कुछ सूना है।' एक उदाहरण और देना पर्याप्त होगा :—

"आलाने गृह्यते हस्ती, बाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी यदिदं नास्ति गम्यताम्" ॥१-५०॥

'हाथी बन्धनस्तम्भ से बाँधकर वश मे किया जाता है, घोड़ा लगाम से वश मे होता है, स्त्री हृदय के अनुराग से वशवती होती है। यदि यह (स्नेह) नही है तो जाइए।' ऐसे स्थलो पर काव्यात्मक सौन्दर्य का अभाव भले ही हो, किन्तु अर्थगत सौन्दर्य आकर्षक है। कही-कही कवि ने 'विक्रीतपरय इव वणिजः अहं सुखं स्वप्स्यामि' तथा 'अनभ्रपतति वज्र' जैसी लोकोक्तियो का प्रयोग करके अपनी भाषा को शक्तिमती बनाया है।

'मृच्छकटिक' की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता जो अन्य नाटको मे नही मिलती पात्रानुकूल प्राकृतो का प्रयोग है। 'मृच्छकटिक' के प्रसिद्ध टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार इस प्रकरण मे शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की इन सात प्राकृतो का प्रयोग हुआ है। वे इनमें से शौरसेनी, मागधी, अवन्तिका तथा प्राच्या को प्राकृत मानते है तथा शकारी, चाण्डाली और ढक्की को विभाषा कहते है। शौरसेनी का प्रयोग सूत्रधार, वसन्तसेना, मदनिका, कर्णपूरक, वसन्तसेना की माँ, धूता, श्रेष्ठी, न्यायाधीश, रदनिका आदि पात्र करते है। (हद्धी! हद्धी! कथं परिजणो वि परिब्भट्ठो। एत्थ मए अप्पा सअं ज्जेव रक्खिदव्वो)। अवन्तिका वीरक और चन्दनक द्वारा बोली जाती है (जइ अज्जचारुदत्तं वसन्तसेणिं अंवा ण जाणासि, ता गअणे जोण्हासहिदं चन्दं पि तुमं ण जाणासि)। विदूषक प्राच्या बोलता है। (पणइजणसंकामिदविहवस्स सुरलोअपीदसेसस्स विअपड़िवच्चंदस्स परिक्खओ वि दे अहिअदरं रमणीओ)। मागधी का प्रयोग संवाहक, स्थावरक चेट, संस्थानक, कुम्भीलक, वर्धमानक तथा रोहसेन करते है (तदो, तेण अज्जेण शवित्ती पलिचालके किदोम्हि चालित्तावशेशे अतस्मि जूदोवजीवीम्हि

शंवुत्ते)। शकार शकारी बोलता है। (कि णिमित्त उण भावे। एदश्श दुट्ठवड्अश्श विणअञ्जलि कदुअ पाएशु णिपड़िदे ?) चण्डाल चाण्डाली का प्रयोग करते है (इमं घोशणट्ठाण, आहणेध डिण्डिमं, घोशेध घोशणं) और ढक्की का प्रयोग द्यूतकार द्वारा होता है (अले! विप्पदीवु पादु। पडिमाशुगणु द्रेउलु। धुत्त जूदअरु विप्पदीवेहिं पादेहिं देउलं पविट्ठो)।

इन प्राकृतो मे से अवन्तिका और शौरसेनी मे अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। पृथ्वीधर के अनुसार यह रेफवती है और लोकोक्तियो का इसमे बहुलता से प्रयोग होता है। लोकोक्ति सम्बन्धी मत तो सत्य प्रतीत होता है किन्तु 'रेफवती' का अर्थ स्पष्ट नही होता। यदि यह माना जाय कि इसमे 'ल' के स्थान पर 'र' हो जाता है तो 'मृच्छकटिक' की भाषा को देखकर यह मत प्रमाणित ज्ञात नही होता। क्योंकि मृच्छकटिक की अवन्तिका मे ल के स्थान पर ल ही मिलता है। यथा—पदोली दुआरे (प्रतोली द्वारे) अणवलोइदो (अनवलोकित)। विदूषक की भाषा प्राच्या भी शौरसेनी से भिन्न नही ज्ञात होती। सम्भवतः यह शौरसेनी की पूर्वी बोली रही होगी। इसमे पृथ्वीधर के अनुसार स्वार्थिक 'ककार' का बाहुल्य होता है। परन्तु मृच्छकटिक की भाषा मे यह लक्षण भी नही मिलता। शौरसेनी, अवन्तिका तथा प्राच्या तीनो मे 'स', 'श' और 'ष' के स्थान पर 'स' ही होता है। यथा—पविसामि (प्रविशामि), विसल्ल (विशल्य) सुरलोअपीदसेसस्स (सुरलोकपीतशेषस्य) इत्यादि। प्राच्या और अवन्तिका मे एक भेद और है। प्राच्या मे मध्यग 'त' का 'द' हो जाता है। जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है और अवन्तिका मे उसका 'त' लोप हो जाता है। जैसे भणदु (भणतु)। शकारी कम या अधिक मागधी ही है और चाण्डाली भी मागधी की ही विभाषा है। मागधी, शकारी और चाण्डाली तीनो मे 'श', 'ष' और 'स' के स्थान पर 'श' और 'र' के स्थान पर 'ल' हो जाता है। यथा—शवित्ती (सवृत्तिः), पलिचालके (परिचारकः), अणेशामि (अन्विष्यामि), पलित्ताइश्शदि (परित्रास्यते), घोशेध (घोषयत), कालणादो (कारणात्)।

काट गिराया (अलंकारो को चुरा लिया)' अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण देखिये :—

'खल ! चरित-निकृष्ट ! जातदोषः कथमिह मां परिलोभसे धनेन ।
सुचरित चरितं विशुद्धदेहं न हि कमलं मधुपा' परित्यजन्ति" ॥८-३२॥

'हे खल, निकृष्ट चरित्र तथा दोषो को उत्पन्न करनेवाले ! मुझे इस धन से क्यो लुभाना चाहते हो। क्योकि सुन्दर चरित्र और निर्मल आकृतिवाले कमल को भौंरे त्यागते नही है।' शर्विलक ने चारुदत्त के घर सेंध फोड़ली है। उसमे से होकर दीपक का प्रकाश बाहर आ रहा है। कवि कितनी सुन्दर उपमा द्वारा उसका वर्णन करता है :—

"शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा,
महीतले सन्धिमुखेन निर्गता।
विभाति पर्यन्ततमः समावृता
सुवर्णरेखेव कषे निवेशिता" ॥३-१७॥

'सोने के समान पीत दीपक की शिखा सेंध के द्वार से निकलकर बाहर की भूमि पर अन्धकार से चारो ओर घिरी हुई कसौटी पर सोने की रेखा के समान सुशोभित होती है।' सागरूपक द्वारा न्यायाधिकरण का कैसा प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है :—

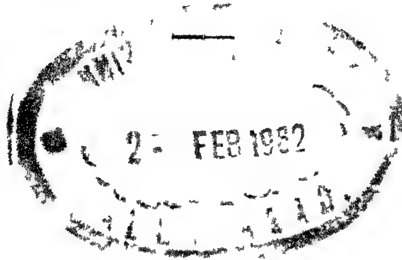
"चिंतासक्त-निमग्न-मन्त्रि-सलिलं दूतोर्म्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्त-स्थित-चार-नक्र-मकरं नागाश्व-हिस्राश्रयम्।
नाना-वाशक कङ्क-पक्षि-रुचिरं कायस्थसर्पास्पदं।
नीति-क्षुण्णतटश्च राजकरणं हिस्रैः समुद्रायते" ॥९-१४॥

'चिन्ता मे डूबे हुए मन्त्री ही जल है, आकुल दूतगण ही लहरें और शंख है, प्रान्त देश मे स्थित गुप्तचर मगर तथा घड़ियाल है, हाथी, घोड़े आदि हिंसक जन्तु है। अनेको प्रकार से बोलनेवाले वादी-प्रतिवादी सुन्दर कंक पक्षी है और कायस्थ (लेखक) सर्प है। जिसके नीतिरूपी तट भग्न हो चुके है। ऐसा न्यायाधिकरण हिंसक आचरणो से समुद्र का रूप

धारण कर रहा है।' इस प्रकार मृच्छकटिक की अलंकार-योजना प्रशंसनीय है।

'मृच्छकटिक' मे कवि ने वसन्ततिलका, शार्दूल विक्रीडित और इन्द्रवज्रा का अधिक प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, उपजाति, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी, विद्युन्माला, विश्वादेवी, शिखरिणी, स्रग्धरा, हारिणी, आर्या, गीति, पथ्यावक्य, मानमारिणी इत्यादि वृत्तो का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार हम देखते है कि मध्यवर्ग की स्वाभाविक दशा को उपस्थित करनेवाला यह सर्वश्रेष्ठ प्रकरण है। संस्कृत प्रकरणो के इतिहास मे यह निस्सन्देह भवभूति के मालती-माधव से भी अधिक सुन्दर बन पड़ा है। उसकी अपेक्षा इसमे नाटकीय गुणो की भी बहुलता है। 'मृच्छकटिक' अपनी अपूर्वता के लिए संस्कृत नाटक साहित्य मे विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।



रत्नावली-नाटिका

सस्कृत साहित्य मे नाट्यशास्त्र की शास्त्रीय पद्धति के अनुरूप लिखे गये नाटको मे 'वेणी-संहार' के साथ-साथ 'रत्नावली-नाटिका' का भी नाम लिया जाता है। 'दशरूपककार' तथा अन्य आचार्यों ने उदाहरणो के निमित्त 'वेणी-सहार' की अपेक्षा 'रत्नावली' के ही पद्यो को अधिक चुना है। इससे स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि 'रत्नावली' 'वेणी-संहार' की अपेक्षा शास्त्रीय पद्धति के अधिक निकट है।

'रत्नावली' के रचयिता भारत के अन्तिम सार्वभौम सम्राट् हर्षवर्द्धन थे। किन्तु कतिपय प्राचीन आलोचको ने 'रत्नावली' के लेखक के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर जो समस्या नही थी, उसे भी समस्या बना दिया है। मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' मे काव्य के प्रयोजन का उल्लेख करते समय एक पंक्ति आई है—'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'। इसकी व्याख्या करते हुए कतिपय टीकाकारो ने लिखा है कि जिस प्रकार श्रीहर्ष आदि ने धावक आदि कवियो को धन देकर रत्नावली आदि ग्रथ अपने नाम से लिखवाये अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि धावक कौन था? किसी-किसी ने बाण को ही धावक कहा है। यदि बाण ही धावक था तो हर्ष ने उसकी प्रसिद्ध कृति 'कादम्बरी' को अपने नाम से प्रचारित क्यो नहीं कराया? हर्ष की रचनाओ और बाण की रचनाओ मे शैली साम्य भी नही है। यदि धावक अन्य कवि है तो निश्चय ही वह इतना प्रतिभाशाली नही है कि अन्य परवर्ती या सम-सामयिक कवि उसका उल्लेख करते। 'काव्य प्रकाश' की इस पंक्ति का तो यही सामान्य अर्थ होना चाहिये कि जैसे हर्ष आदि ने धावक आदि कवियो को उनकी काव्य-रचना पर प्रसन्न होकर) धन दिया। हर्ष की इस प्रकार की दानशीलता का वर्णन उनके राज्याश्रित कवि बाण ने भी किया है। हर्षवर्द्धन ने बाण

को उनकी काव्य-कला से सन्तुष्ट होकर जो धन प्रदान किया था, उसका उल्लेख उदयन सुन्दरी कथा के लेखक सोड्ढल ने इस प्रकार किया है :—

"श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नेव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
श्रीहर्ष एव निजससदि येन राज्ञा
सम्पूजितः कनककोटिशतेन वाणः ॥"

कविकोकिल जयदेव ने उन्हें 'कविता-कामिनी का हर्ष' कहा है। रत्नावली के अतिरिक्त भी हर्षवर्द्धन की दो अन्य नाट्य कृतियाँ 'प्रियदर्शिका नाटिका' और 'नागानन्द' नाटक प्रसिद्ध है। तीनो कृतियो को देखने से नाटककार की नाट्यकला के क्रमिक विकास का आभास मिलता है। तीनो कृतियो की प्रस्तावना मे तो हर्षवर्द्धन का नाम है ही, साथ ही उनकी शैली मे भी विकासात्मक साम्य दृष्टिगत होता है। 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द' मे दो छन्द तथा प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' मे एक छन्द समान है। इससे तीनो एक ही कवि की कृति प्रमाणित होती है। प्रसिद्ध यात्री इत्सिग (६७१-६९५ ई ने अपने यात्रा-विवरण मे भी हर्षवर्द्धन को 'नागानन्द' नाटक का रचयिता लिखा है। अतएव 'रत्नावली' के रचयिता भी हर्षवर्द्धन ही प्रमाणित होते है। इसके अतिरिक्त दामोदर गुप्त (८०० ई०) ने 'रत्नावली' को किसी राजा की कृति कहा है और वे राजा हर्षवर्द्धन ही हो सकते है। इस प्रकार हमे जब तक रत्नावली के किसी अन्य द्वारा रचित होने के पुष्ट और प्रबल प्रमाण नही प्राप्त होते तब तक हर्षवर्द्धन को ही उसका सृजनकर्ता मानना उचित है। हर्षवर्द्धन स्थानेश्वराधीश प्रभाकरवर्द्धन के कनिष्ट पुत्र थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्द्धन की मृत्यु के अनन्तर राज्यासन पर अधिष्ठित हुए और उन्होने ६ ६ ई० से ६४७ ई० तक राज्य किया। बाण ने अपनी कृति हर्षचरित मे उनका वर्णन करते हुए उनके विद्यानुराग, कला-प्रेम, दानशीलता और शासन-क्षमता की प्रशंसा की है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भी हर्ष की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वास्तव मे हर्ष-

वर्द्धन भारत का अन्तिम शक्तिशाली, सद्गुणालंकृत सार्वभौम सम्राट् था।

वस्तु-विवेचन—नाटिकाकार ने प्रस्तावना के अनन्तर विष्कम्भक द्वारा नाटिका की पूर्व कथा का आभास दिया है। कौशाम्बीनरेश उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण को ज्योतिषियो से ज्ञात होता है सिंहलेश्वर की दुहिता रत्नावली जिससे परिणीत होगी, उसे चक्रवर्तित्व की प्राप्ति होगी। वह सिहलेश्वर के समीप उदयन के निमित्त रत्नावली को प्रदान करने का सन्देश भेजता है, किन्तु उदयन की रानी वासवदत्ता के कारण वह इस प्रस्ताव को स्वीकार नहो करता। तब यौगन्धरायण लावाणक मे वासवदत्ता के दग्ध होने के असत्य समाचार को प्रचारित करके सिहलेश्वर से उदयन के लिए रत्नावली को प्राप्त करने मे सफल हो जाता है। किन्तु संयोगवश रत्नावली को लानेवाला जलयान टूट जाता है और वह प्रवाहित हो जाती है। भाग्यवश वह एक तख्ते पर बहती हुई कौशाम्बी के व्याप। रयो द्वारा निकाली जाती है और यौगन्धरायण के समीप लाई जाती है। यौगन्धरायण उसका नाम सागरिका रखकर उसे उदयन के अन्तःपुर मे देवी वासवदत्ता की सेवा मे नियुक्त कर देता है, जिससे अवसर पाकर राजा स्वयं उसकी और आकर्षित हो। यहीं से मूल-कथा आरम्भ होती है।

प्रथम अङ्क मे मदनमहोत्सव का दृश्य अंकित किया गया है। राजा उदयन अपने मित्र वसन्तक के साथ राजप्रासाद से नागरिको की फाग-क्रीड़ा का अवलोकन करते हुए आनन्दोपलब्धि कर रहे है। उसी समय उन्हे सूचना मिलती है कि रानी वासवदत्ता मकरन्दोद्यान मे रक्ताशोक-पादप के नीचे काम-पूजन करने जा रही है और उनको भी सम्मिलित होने की प्रार्थना की है। राजा विदूषक के साथ कामार्चन के निमित्त चल देता है। वासवदत्ता देखती है कि पूजा-सामग्री सागरिका लाई है। वह सागरिका को राजा की दृष्टि से बचाना चाहती है। इसीलिए वह पूजा-सामग्री काञ्चनमाला को दिलाकर सागरिका को सारिका की देखभाल

करने के लिए भेज देती है। सागरिका सारिका को पहले ही सौंप चुकी थी। अतः वह वासवदत्ता और उदयन की काम-पूजा का अवलोकन करने के लिए वहो छिपकर पुष्प चयन करने लगती है और फिर कन्दर्प-सम सुन्दर उदयन को देखकर उसके हृदय मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है और वह दीर्घ निश्वास छोडती हुई जाती है। नायिका के हृदय मे प्रणय-बीज का वपन करके प्रथम अंक की समाप्ति होती है।

द्वितीय अङ्क के प्रवेशक से ज्ञात होता है कि विरह-विदग्धा सागरिका चित्र विनोद के लिए कदलीगृह मे प्रवेश करती है। वह कदलीगृह में जाकर कामदेव को कोसती हुई उदयन का चित्र अकित करती है। इतने में ही उसकी सखी सुसंगता आकर उदयन के चित्र के समीप ही सागरिका का चित्र बना देती है। फिर परस्पर उदयन से प्रेम-विषयक वार्तालाप होता है, जिसे मेधाविनी सारिका सुन लेती है। सुसगता सागरिका के विरह ताप शमनार्थ नलिनी पत्रो का शमन निर्माण करती है और कमल-पत्र एवं नाल आदि से वलय आदि बनाकर उपचार मे लीन होती है। उसी समय राज-पालित बन्दर छूटकर उपद्रव मचाता हुआ आता है। जिससे भयभीत होकर सागरिका सुसंगता के साथ चित्रफलक को वही छोडकर भाग जाती है। बन्दर सारिका के पिंजरे को खोल देता है, जिससे वह भी उड़ जाती है। इसी समय राजा उदयन विदूषक के साथ घूमते हुए आते है और सारिका द्वारा सागरिका और सुसंगता के वार्तालाप को सुनकर उस प्रेमी और प्रेमिका के प्रति उत्कण्ठित होते है। तभी कदली-मडप मे उन्हे वह चित्रफलक मिल जाता है और राजा के हृदय मे भी चित्रस्थ सागरिका के प्रति प्रेम उदय होता है। राजा उस चित्र का मुग्ध होकर दर्शन करने लगता है। उसी समय सुसंगता और सागरिका चित्रफलक लेने के लिए पुनः कदलीगृह की ओर आती है। सागरिका राजा की प्रेमाभिभूत दशा देखकर अपने सौभाग्य को धन्य मानती हुई पुलकित हो जाती है। तभी अवसर पाकर सुसगता सागरिका और उदयन का सम्मिलन करा देती है। सागरिका कृत्रिम मान का प्रदर्शन करती

है, तभी विदूषक कहता है कि यह तो दूसरी वासवदत्ता है। वासवदत्ता के भय से सागरिका और सुसंगता चली जाती है। तभी वासवदत्ता काञ्चनमाला के साथ प्रवेश करती है। विदूषक चित्रफलक को छिपा लेता है। वासवदत्ता नवमालिका के असमय मे विकसित होने की बात कहती है। विदूषक खुशी से नाचने लगता है। चित्रफलक नीचे गिर पड़ता है। वासवदत्ता उसमे अंकित चित्रों को देखकर क्रोधित होनी है। उदयन के बहाना बनाने तथा मनाने पर भी वह चली जाती है। राजा की चिन्तित मुद्रा मे अङ्क समाप्त होता है।

तृतीय अंक के प्रवेशक से ज्ञात होता है कि उदयन की विरह-विह्वलता को देखकर विदूषक वसन्तक सुसंगता से मिलकर यह योजना बनाता है कि रानी वासवदत्ता का वेषधारण करके सागरिका, कांचनमाला का वेष धारण करनेवाली सुसंगता के साथ माधवी लतामण्डप मे राजा के समीप अभिसरण करे। किन्तु यह योजना काञ्चनमाला के द्वारा वासवदत्ता पर प्रकट हो जाती है और वह काञ्चनमाला के साथ नियत समय पर माधवी लतामण्डप की ओर प्रस्थान करती है। वसन्तक और उदयन दोनो ही उसे सागरिका समझ बैठते है तथा राजा अपने सागरिका-विषयक प्रेमोद्गारो को आतुर उल्लास के साथ व्यक्त कर देता है। तभी वासवदत्ता अवगुण्ठन हटाकर अपने को प्रकट कर देती है। राजा लज्जित होकर चरणो पर गिरता हुआ क्षमा-याचना करता है। किन्तु वह क्रोधित होती हुई तथा कटूक्तियाँ सुनाती हुई चली जाती है। समय के अनन्तर आनेवाली सागरिका इन समस्त बातो को जानकर वासवदत्ता के कोप की आशंका से तथा अपने प्रयास की विफलता से दुःखी होकर लतापाश से गला घोटकर आत्महत्या करना चाहती है। उसी समय राजा उदयन वसन्तक के साथ रूठी हुई वासवदत्ता को मनाने के लिए उधर आ जाता है और उसे वासवदत्ता समझकर बचाने दौड़ता है। पर जब उसे ज्ञात होता है कि यह सागरिका है तो महान् प्रसन्न होकर अपना प्रेम-प्रदर्शन करता है। सागरिका उसके प्रेम-प्रदर्शन को असत्य बताकर वासवदत्ता

के साथ हुई घटना की ओर इंगित करती है। राजा उस व्यवहार को शिष्टता-मात्र कहकर अपना वास्तविक प्रेम उसी से बताता है और उसे विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है। तभी वासवदत्ता, जो राजा की क्षमा-प्रार्थना की अवहेलना करके गई थी, अपने व्यवहार की रूक्षता का पश्चात्ताप करके राजा के पास आती है। पर राजा की बातो को सुनकर और सागरिका के प्रति प्रेम प्रदर्शन को देखकर पुनः रुष्ट हो जाती है। राजा उसे मनाने की पुनः असफल चेष्टा करता है। विदूषक भी लता-पाश दिखाकर यह तर्क उपस्थित करता है कि राजा ने आपको ही आत्म-हत्या के लिए उद्यत समझकर बचाने का प्रयत्न किया। परन्तु वासवदत्ता सब सुन चुकी थी। इसीलिए वह विदूषक को लतापाश से बाँधकर तथा सागरिका को आगे करके ले जाती है। राजा की वेदना और चिन्ता को बढाते हुए अंक समाप्त होता है।

चतुर्थ अङ्क के प्रवेशक से ज्ञात होता है कि सागरिका को रानी वासव-दत्ता ने कही बन्दी बनाकर यह प्रचारित कर दिया है कि उसे उज्जयिनी भेज दिया गया है। सागरिका जाते समय अपनी रत्नमाला को सुसंगता को इसलिए दे गई है कि वह उसे किसी ब्राह्मण को दे दे। उधर राजा के अनुनय-विनय से विदूषक वसन्तक मुक्त हो गया है और उसकी सुसंगता से भेंट होती है। सुसंगता रत्नमाला को विदूषक को ही दे देती है। विदूषक उस रत्नमाला के द्वारा राजा का विनोद करने का प्रयत्न करता है। तभी विजयवर्मा से राजा को सूचना मिलती है कि सेनापति समण्वान ने कोशल पर विजय प्राप्त कर ली। इस समाचार के बाद ही काञ्चनमाला एक ऐन्द्रजालिक को लेकर आती है। राजा वासवदत्ता को भी बुला लेता है और ऐन्द्रजालिक के जादू का आनन्द ग्रहण करता है। तभी कंचुकी वाभ्रव्य, जो रत्नावली को सिंहल से लाने गये थे तथा सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति, जो रत्नावली के साथ आये थे, पर जलयान टूटने से बह गये थे, आते है। वे दोनो विदूषक के गले मे रत्नमाला देख-कर शंकित होते है कि यह रत्नमाला तो राजकुमारी रत्नावली की ज्ञात

होती है। वसुभूति वासवदत्ता के जलने के समाचार को प्रसारित करने की घटना से लेकर रत्नावली के जलयान टूटने तक की समस्त घटना को सुनाता है। राजा को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है। तभी अन्त.पुर मे आग लगने की सूचना मिलती है। रानी को सागरिका का ध्यान आता है और वह उसे बचाने के लिए राजा से प्रार्थना करती है। राजा आग मे प्रविष्ट होकर सागरिका को बचाने चला जाता है। वासवदत्ता, विदूषक, वाभ्रव्य और वसुभूति भी उसका अनुगमन करते है। सागरिका की मुक्ति के साथ ही अग्नि आकस्मिक रूप से शान्त हो जाती है। वह वास्तव मे ऐन्द्रजालिक का जादू ही था। वसुभूति और वाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते है कि वही सिंहलेश्वर की दुहिता रत्नावली है। तभी मन्त्री यौगन्धरायण समस्त घटना का उद्घाटन करता है। राजा वासवदत्ता की प्रार्थना पर रत्नावली को पत्नीरूप मे स्वीकार कर लेता है। भरतवाक्य के साथ नाटिका समाप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि नाटिका का कथानक कितना सुगठित है एवं किस सयुक्तिक ढंग से विकसित हुआ है। हर्ष ने अपनी प्रतिभा तथा अद्भुत कल्पना से ऐसी घटनाओ की योजना की है जो स्वाभाविक होते हुए भी चमत्कारिणी है एवं कथानक को तीव्र गति प्रदान करती है। द्वितीय अङ्क मे सारिका द्वारा सागरिका एवं सुसंगता के वार्तालाप की पुनरावृत्ति तथा उसके द्वारा उदयन के हृदय मे प्रेम का आविर्भाव करने की कल्पना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है तथा नाटिका को गतिशील बनानेवाली है। इसी प्रकार वस्त्र-परिवर्तन करके सागरिका के अभिशरण करने एवं उसके वासवदत्ता पर उद्घाटित होने की घटना हर्ष की कल्पना-शक्ति का सुमंजु निदर्शन है और ऐन्द्रजालिक की कल्पना ने तो आनन्दमय विनोदपूर्ण वात।वरण की सृष्टि करते हुए अपूर्व उल्लास की चमत्कृत भूमिका मे नाटिका की सुखद समाप्ति का संयोजन किया है। यद्यपि बन्दर के भागने की घटना कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' से प्रभावित मानी जाती है किन्तु हर्ष ने इस कौशल से उसे अपनी

नाटिका मे संतुलित सज्जा दी है कि वह उधार ली हुई वस्तु नहीं प्रतीत होती। कथानक की चारुतापूर्ण गत्यात्मकता, व्यापारो की स्वाभाविक सृष्टि, घटनाओ की युक्तिपूर्ण नियन्त्रित योजना एवं गठन की चुस्ती की दृष्टि से रत्नावली का वस्तु-विन्यास श्लाघ्य है।

जहाँ तक शास्त्रीय कथा-विकास का सम्बन्ध है, यह नाटिका असफल नही कही जा सकती। नाटकीय वस्तु के सन्ध्यादि विभागो की व्याख्या के निमित्त दशरूपककार एवं साहित्यदर्पणकार इत्यादि आचार्यो ने अधिकाश उदाहरण रत्नावली से ही चयन किये है। इसी से इसके कथानक की शास्त्रीयता का आभास मिलता है। किन्तु लेखक कभी शास्त्रीय नियमादि के जटिल बन्धनो से अपनी कला को आबद्ध करके उसकी रमणीयता को हानि नही पहुँचाता। कलाकार की तूलिका हलके गहरे रंगो के द्वारा चित्र को स्वाभाविक कमनीयता प्रदान करती है। उसे शास्त्रीय सिद्धान्तो के बन्धन की अपेक्षा नही होती। हर्ष ने भी यही किया है। इसी कारण शास्त्रीय ग्रंथो मे सन्ध्यङ्गो के जिस क्रम का विधान है, उसका यथावत् पालन हर्ष ने नही किया है। नाट्य सिद्धान्तो के अनुसार मुख सन्धि के द्वादश सन्ध्यंगो मे से एकादश सन्ध्यंग 'करण' (करणं पुनः, प्रकृतार्थसभारम्भः) है तथा चतुर्थ 'विलोभन' (गुणनिर्वर्णनञ्चैव विलोभनमिति स्मृतम्) है। किन्तु रत्नावली मे 'करण' पहले आया है। देखिये—'नमस्ते भगवन्कुसुमायुध अमोघदर्शनो मे इदानी त्वं भविष्यसि' और 'विलोभन' बाद मे—

"अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानी समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुष. पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते" ॥

यहाँ 'विलोभन' के साथ 'उद्भेद' (वीजार्थस्य प्ररोहो यः स उद्भेद इति स्मृतः) नामक सन्ध्यङ्ग भी है। कलाकार की यही स्वच्छन्दता उसकी

कला को निखारकर सँवारती है। हर्ष सच्चे अर्थों में कलाकार है, आचार्य नही।

वस्तु-विकास मे जहाँ तक अर्थप्रकृतियो, कार्यावस्थाओ एवं सन्धियो के शास्त्रीय निरूपण से सम्बन्ध है, हर्ष ने 'रत्नावली' मे उनका पूर्ण निर्वाह करने की चेष्टा की है। 'रत्नावली' के कथानक का प्रधान कार्य रत्नावली और उदयन का परिणाम है। कवि ने रत्नावली के विष्कम्भक मे यौगन्धरायण की उक्ति द्वारा इस कार्य के बीज की ओर निर्देश कर दिया है :—

"द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः" ॥

'अन्य द्वीप, समुद्र के मध्य तथा दिशान्त से भी अनुकूल विधाता अभीष्ट वस्तु को तुरन्त लाकर मिला देता है।' यहाँ से लेकर यौगन्धरायण की इस उक्ति तक बीज का ही उपस्थापन किया है :—

"प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवेनेत्थ दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धे र्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाचारो भीत एवास्मि भर्तुः" ॥

'यद्यपि मैने स्वामी के अभ्युदय के हेतु ही यह कार्य आरम्भ किया है, विधाता ने भी इसमे अवलम्ब दिया है अतः इसकी सिद्धि मे सन्देह नही, तथापि स्वेच्छाचारी होने से स्वामी से भयभीत हूँ।'

यौगन्धरायण की यह उक्ति ही 'आरम्भ' नामक अवस्था की सूचना देती है। क्योकि उदयन की सिद्धि स्वायत्त न होकर सचिवायत्त ही है। 'बीज' नामक अर्थ प्रकृति और 'आरम्भ' नामक अवस्था का समन्वय मुखसन्धि के द्वारा होता है। तथा मुखसन्धि मे ही 'बीज' का विकास उद्देश्यो का परिचय, फल के लिए प्रोत्साहन इत्यादि को भी वर्णित किया जाता है। अतएव 'रत्नावली' के प्रथम अंक मे मुखसन्धि ही का उपस्थापन है।

प्रथम अङ्क में ही अनङ्गार्चन के समय सागरिका प्रच्छन्न होकर उदयन के सौन्दर्य का दर्शन करती है और तभी वैतालिक गा उठता है :—

"सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुष. पादांस्तवा सेवितुं।
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते" ॥

'इस समय कमलो की कान्ति को हरण करनेवाले, प्रेम की अभिवृद्धि करनेवाले चन्द्रकिरणो के सदृश उदयन के चरणो की सेवा के लिए राजसमूह प्रतीक्षा कर रहा है।' इस कथन को सुनकर सागरिका प्रसन्नता से कह उठती है—"कहं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तातेण दिण्णा" 'क्या ये वे ही राजा उदयन है, जिनके लिए पिताजी ने मुझे प्रदान किया है।' सागरिका का यह कथन उसके हृदय मे आविर्भूत प्रेम की सूचना देता है तथा कथा-विकास मे सहायक होता है। अत. इसे विन्दु नामक अर्थ प्रकृति कहा जा सकता है। सागरिका उदयन के विरह मे व्यथित होकर उनका चित्र बनाने का प्रयत्न करती है और कहती है—"णत्थि तस्स जणस्स अण्णो दंसणोवाओ त्ति जहातहा आलिहिअ ण पेक्खिस्सम् ।" 'दर्शन का कोई अन्य उपाय नही है। अतएव जैसे-तैसे चित्र बनाकर अपना अभीष्ट प्राप्त करूँगी।' बाद मे यही चित्र दोनो के समागम मे निमित्त होता है। अत. यहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था है। 'विन्दु' और 'प्रयत्न' का समन्वय प्रतिमुख सन्धि मे होता है। साथ ही बीज का उद्भेद कही लक्षित और कही अलक्षित रूप से होता है। द्वितीय अंक मे सागरिका का अनुराग सुसगता और विदूषक पर स्पष्ट प्रकट होता है तथा वासवदत्ता चित्रफलक द्वारा उसका कुछ अनुमान कर लेती है। इस प्रकार द्वितीय अङ्क मे प्रतिमुख सन्धि है।

पताका और प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियाँ अवान्तर कथाएँ होती है। नाटिका के संकुचित क्षेत्र मे इनकी अपेक्षा नही होती और इनके न होने से नाटिका की शास्त्रीयता को आघात नही पहुँचता। अतएव रत्नावली मे इनको स्थान नही दिया गया। रत्नावली के तृतीय अङ्क मे वेष परिवर्तन और अभिसरण इत्यादि समागम के उपाय विद्यमान हैं और वासवदत्ता रूपी विघ्न की भी आशका है। अप्रत्याशित रूप से सागरिका का समागम पाकर राजा कहता है—"सखे इयमनभ्रा वृष्टिः।"

'मित्र, यह मेघहीन वर्षा के समान है।' इस पर विदूषक का यह कथन—"भो एवं एणेदं जदि अआलवादावली भविअ ण आआदि देवी वासवदत्ता" 'है तो ऐसा ही, यदि अकाल वातावली के समान देवी वासवदत्ता न आ जाये।' आशंका प्रकट करता है। अतः यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। इस अक मे आशा निराशा का दोलन सा चल रहा है। सागरिका और उदयन का किसी प्रकार मिलन भी होता है और वासवदत्ता के द्वारा विघ्न भी। उदयन "देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि"—'देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता है।' कहकर उपाय के अन्वेषण की ओर इंगित करता है। इसलिए तृतीय अङ्क मे गर्भ सन्धि है।

राजा उदयन का उपर्युक्त कथन—'देवीप्रसादन मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि'—ही फलप्राप्ति की निश्चितता का आभास देता है। क्योंकि हम अन्त मे देखते है कि वासवदत्ता की प्रसन्नता ही सागरिका-रत्नावली को उदयन से मिला देती है। अतएव यहाँ नियताप्ति नामक अवस्था है। चतुर्थ अंक मे अग्नि के उपद्रव तक रत्नावली की प्राप्ति मे विघ्न दिखलाये गये है और अन्त मे निर्विघ्न रत्नावली की प्राप्ति का अवसर दिखाया गया है। इस प्रकार चतुर्थ अङ्क मे अवमर्श सन्धि पाई जाती है। इसी अङ्क मे सिहलेश्वर का मन्त्री वसुभूति सागरिका को ध्यानपूर्वक देखकर वाभ्रव्य से कहता है—"वाभ्रव्य सदृशीयं राजपुत्र्या" 'वाभ्रव्य, यह राजपुत्री के समान ज्ञात होती है।' यहाँ से लेकर निर्वहण सन्धि का आरम्भ होता है जो अन्त तक चलती है। क्योंकि इसी कथन मे समस्त वस्तु का उपसंहार किया गया है। यौगन्धरायण उपस्थित होकर समस्त रहस्य का उद्घाटन करता है और वासवदत्ता उदयन से रत्नावली को ग्रहण करने की प्रार्थना करती है। फल की प्राप्ति हो जाती है।

नाटककार ने कथानक में चमत्कार की सृष्टि करने तथा भावी घटना

का आभास दिलाने के लिए पताकास्थानको का भी प्रयोग किया है। धनञ्जय ने पताकास्थानक की परिभाषा करते हुए लिखा है :—

"प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्" ॥

नाट्यशास्त्र मे पॉच प्रकार के पताकास्थानको का उल्लेख है। आचार्य विश्वनाथ ने भी कुछ अन्तर से पॉच प्रकार के ही पताकास्थानक माने है। किन्तु धनञ्जय ने उन्हे दो मे ही समाहित कर दिया है। १—अन्योक्तिरूप पताकास्थानक २—समासोक्ति रूप पताका स्थानक 'रत्नावली' मे दोनो ही प्रकार के पताकास्थानको का प्रयोग हुआ है :—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति" ॥

यहाँ सन्ध्याकाल का वर्णन करते हुए उदयन और सागरिका के भावी सम्मिलन की सूचना दी गई है। अतएव अन्योक्ति रूप पताका स्थानक है। इसी प्रकार :—

"उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुच प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवम्
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

यहाँ समान विशेषणो द्वारा राजा उदयन और सागरिका की प्रेम-लीला और वासवदत्ता के क्रोध का आभास दिया है। अतः समासोक्ति-रूपा पताकास्थानक है। विश्वनाथ के अनुसार यह चतुर्थ पताकास्थानक है। इस प्रकार हर्ष ने शास्त्रीय नियमो का परिपालन करते हुए भी नाटक की वस्तु को कलात्मक ढंग से संयोजित किया है।

पात्र-परिचय—उदयन इस नाटिका का नायक है। जो धीर ललित

नायक है, जो राज्यभार अपने मन्त्री पर छोडकर विश्वस्त चित्तसे निश्चिन्तता के साथ अपने विदूषक की सहायता से वासवदत्ता के प्रेम मे लीन है। वह स्वतः कहता है :—

"राज्यं निर्जितशत्रुयोग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भर.
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिता शेषोपसर्गा प्रजाः।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृति
काम. काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः" ॥

'राज्य के समस्त शत्रुओ को परास्त करके योग्य मन्त्री को भार सौप दिया गया, प्रजा भली प्रकार से पालित होने के कारण उपद्रवहीन है। प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता है, तुम हो – यह अमित सन्तोष है। अतएव यह महान् उत्सव मेरे लिए ही है, काम का तो इसके साथ नाममात्र है।' उदयन के चरित्र मे हम विलास, प्रेम, कलाप्रियता एवं प्रणय के ही दर्शन पाते है। प्रेम के क्षेत्र मे आरम्भ मे वह दक्षिण नायक प्रतीत होता है, जो सागरिका के प्रति अनुराग रखता हुआ भी वासवदत्ता को अप्रसन्न नही करना चाहता। वासवदत्ता के प्रति भी उसका अनुराग सच्चा है और उसे वासवदत्ता के अनन्य प्रेम का भी विश्वास है। इसीलिए सागरिका के प्रति उदयन के प्रेम को जानकर जब वासवदत्ता कुपित होती है और राजा के पाद पतन से भी प्रसन्न न होकर चली जाती है तो राजा की चिन्ता बढ जाती है और वह विदूषक से कहता है :—

"प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति" ॥

'निश्चय ही मेरी प्रिया प्राण त्याग देगी क्योकि गाढे स्नेह की त्रुटि बड़ी भयानक होती है।' वह वासवदत्ता को प्रसन्न करने की चिन्ता मे ही दिखाई देता है। सागरिका के प्रति उसका प्रेम आन्तरिक नही, वासनाजनित ज्ञात होता है। क्योकि जहाँ वह उसके विरह मे व्यथित होता है, वहाँ वासवदत्ता के आते ही उसके भय से वह प्रेम-भावना क्षण भर मे विलीन हो जाती है। वह वासवदत्ता के चरणो पर पतित होकर

भी प्रसन्न करने की चेष्टा करता है तथा सागरिका को आकर्षित करने के लिए उस समस्त कृत्य को प्रदर्शन-मात्र एवं शिष्टाचार-मात्र बताता है। प्रेम की पावन भावना उसके इस असत्याचरण से दूषित हो जाती है और वह एक कामलिप्सु व्यक्ति ही प्रतीत होता है। जिस समय वह सागरिका को अपने प्रेम का विश्वास दिलाने के बाद पुनः वासवदत्ता के आने पर उसे अपने असत्य वचन से मनाने का प्रयत्न करता है, उस समय वह धृष्टनायक की कोटि मे पहुँचता प्रतीत होता है। किन्तु विरह की अग्नि कामलिप्सा को भस्म कर देती है, वासना के कर्दम को जला डालती है और उसमे उज्ज्वलता की चमक आ जाती है। इसीलिए अग्नि लगने पर उसमे सागरिका को फँसा हुआ जानकर वह विदूषक के रोकने पर भी अपने प्राणो की चिन्ता न करके यह कहता हुआ ज्वालाओं मे प्रवेश करता है—"धिङ् मूर्ख सागरिका विपद्यते। किमद्यापि प्राणा धार्यन्ते।"—'मूर्ख, धिक्कार है। सागरिका जल रही है, क्या अब भी प्राण रखे ?' यहाँ उदयन सच्चे प्रेमी के रूप मे प्रकट होता है।

उदयन के स्वभाव मे शिष्टता और कोमलता स्वभावतः है। उसका व्यवहार परिजनो के प्रति भी अत्यन्त सहृदयतापूर्ण है। रानी वासवदत्ता की दासी जब काम-पूजन के निमित्त उसे बुलाने आती है और भूल से 'देवी आज्ञापयति' कहकर भयभीत सी होने लगती है, उस समय अत्यन्त नम्र तथा परिहासपूर्ण वचनो से उसके भय को दूर करके वातावरण को आनन्दमय बना देता है—'ननु आज्ञापयतीत्येव रमणीयम्'। इसी प्रकार अन्तःपुर की साधारण दासी सुसंगता का स्वागत इन मधुर एवं प्रेमपूर्ण शब्दो मे करता है—'सुसङ्गते ! स्वागतम्, इहोपविश्यताम्।'

यद्यपि इस नाटिका मे उदयन के विलासी और प्रेमी रूप को ही चित्रित करने का प्रयास किया गया है तथापि उसके कुछ कृत्यों से उसकी राजनीति पटुता एवं वीरता का आभास भी मिलता है। प्रणय-लीला के मधुर दिवसो मे, विरह-वेदना के पीड़ामय क्षणो मे भी वह राज्य के कार्यो से उदासीन नही रहता। विजयवर्मा से वह कोशल विजय के समा-

चार को सोत्साह सुनता है, अपने सेनापति समण्डवान के रणकौशल तथा उसकी विजय का समाचार जानकर उसे सहर्ष साधुवाद देता है तथा अपने वीर शत्रु कोशल-नरेश की भी प्रशसा करता है—"साधु कोसलपते साधु! मृत्युरपि तेश्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येव पुरुषकारं वर्णयन्ति।"—'धन्य हो, कोशलपति तुम धन्य हो। तुम्हारी मृत्यु भी प्रशंसनीय है, जिसके शत्रु भी इस प्रकार तुम्हारी वीरता की प्रशसा करते है।' अपने वीर शत्रु की सराहना वीर पुरुष ही कर सकता है, कायर नही। यौगन्धरायण का राजा की आज्ञा के बिना सागरिका को लाने का प्रयत्न करने पर भयभीत होना तथा राजा के इस स्वगत कथन से यह प्रकट होता है कि राजा उदयन राजनीति से भी उदासीन नही था—"यौगन्धरायणेन न्यस्ता? कथमसौ मामनिवेद्य किंचित्करिष्यति।"—"यौगन्धरायण ने सौपा! वह बिना मुझसे पूछे कुछ कैसे करेगा?" हर्ष ने अत्यन्त कौशल के साथ उदयन के दोनो रूपो को चित्रित किया है।

इस नाटिका के पुरुष पात्रो मे दूसरा प्रमुख पात्र उदयन का विदूषक वसन्तक है। उसका चित्रण कवि ने ठीक उसी रूप मे किया है, जैसा नाट्यशास्त्र के सैद्धान्तिक ग्रंथो मे उसका लक्षण दिया हुआ है। वह उदयन का अन्तरंग मित्र है। उससे उदयन की कोई भी हृदय-दशा छिपी नहीं है। अतएव वह 'नर्म साचिव्य' का कार्य भी कुशलता के साथ करता है। वह सुसंगता से मिलकर वेश-परिवर्तन द्वारा सागरिका और उदयन को मिलाने का प्रयत्न करता है तथा वासवदत्ता के आने पर और इस प्रेम लीला का उद्घाटन होने पर वह भरसक चेष्टा करता है, जिससे रानी उदयन पर कुपित न हो। यहाँ तक कि विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपने यज्ञोपवीत की शपथ भी खा जाता है—"भोदि सच्चं सच्चम्। सबामि बम्हसुत्तेण जइ ई दिशी कदावि अम्हेहि दिट्ठपुव्वा।" रानी द्वारा लतापाश से आबद्ध किये जाने पर तथा कारावास का दंड देने पर भी राजा के प्रति उसका प्रेम कम नही होता। मुक्त होने पर वह पुनः राजा के मनोविनोद की चेष्टा करता है तथा सुसंगता से प्राप्त रत्न-

माला को सहर्ष प्रदान कर देता है। वसन्तक के हृदय मे राजा के प्रति वास्तविक प्रेम है, जो आत्मीयता की सीमा मे पहुँच गया है। वह राजा के बिना अपना जीवन धारण नही करना चाहता। उदयन के अग्नि-प्रवेश करने पर वह भी 'भोदि अह विदेपथोवदेसओ होमि' कहता हुआ उसी का अनुसरण करता है।

विदूषक को संस्कृत नाटको मे पेटू के रूप मे चित्रित किया जाता है। वसन्तक भी पेटू है। इसलिए 'द्विपदी खंड' के 'खंड' से भी मोदक बनाने का स्वप्न देखता है। कामार्चन मे उसकी प्रसन्नता का हेतु केवल यह है कि उसे स्वस्तिवाचन की प्राप्ति होगी। रानी वासवदत्ता द्वारा खिलाये जाने पर इतना खा लेता है कि कुछ दिनो के लिए छुट्टी हो जाती है। वह स्वय कहता है—'सहत्थदिण्णेहि मोद एहिं चिरस्स दाव कालस्स ऊपरं मे सुपूरिदं किदम्।'

विदूषक का प्रधान कार्य हास्य की योजना होता है और बहुधा हास्य की सृष्टि मूर्खतापूर्ण कार्यो से होती है। वसन्तक मे भी हमे मूर्खता के दर्शन होते है। वह अकारण ही नाचने लगता है। मदनोत्सव मे नृत्य करते हुए सखियो को देखकर स्वयं भी नृत्य करने लगता है तथा 'द्विपदी खंड' को 'चर्चरी' कहकर अपनी मूर्खता का परिचय देता है। इसी प्रकार वासवदत्ता के समक्ष नवमालिका के असमय मे फूलने की प्रसन्नता से नाच उठता है और चित्रफलक उसकी बगल से गिर जाता है। उसके इसी मूर्खतापूर्ण कृत्य से रहस्योद्घाटन हो जाता है। किन्तु कभी कभी उसकी बुद्धिमत्ता का भी परिचय मिलता है। रानी की प्रतीक्षा मे बैठे हुए राजा को रानी के आगमन की सूचना वह इन शब्दो मे देता है—"भो वअस्स ण एदे महुअरा णेउरसद्दं अणुहरन्ति। णेउरसद्दोज्जेव एसो देवीए परिअणस्स।"—'हे मित्र, यह भ्रमरो द्वारा नूपुरध्वनि का अनुकरण नही है, यह तो साक्षात् देवी परिजन का नूपुर शब्द ही है।' इस कथन से ज्ञात होता है कि उसमे इतना बुद्धि-विवेक है कि वह भ्रमरो की गुञ्जार और नूपुर के शब्द का भेद समझ लेता है। साराश यह है कि वसन्तक का चरित्राङ्कन हर्ष ने अत्यन्त सफलता के साथ किया है।

सिंहलेश्वर की कन्या रत्नावली इस नाटिका की नायिका है, जो यौगन्धरायण के द्वारा लाई जाकर सागर निमज्जित होने पर भी बचने के कारण सागरिका के नाम से उदयन के अन्तःपुर मे दासी के रूप मे रख दी जाती है। वह मुग्धा नायिका है। उदयन से प्रथम साक्षात्कार के समय उसकी जो दशा होती है, उससे उसकी मुग्धावस्था की व्यञ्जना होती है। देखिए—"साग०—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षं ससाध्वसं सकम्पंच स्वगतम्)—हद्धी-हद्धी। एदं पेक्खिअ अतिसद्धसेण न सक्कणोमि पदादो पदं वि गन्तुम्। ता किं दाणि एत्थ करिस्सम्।" '(राजा को देखकर हर्ष, लज्जा एवं कम्प के साथ स्वगत) हाय, धिक्कार है। इन्हे देखकर अत्यन्त लज्जा के कारण मै एक पग भी नही चल सकती। अब क्या करूँ।' साथ ही वह अनिन्द्य सुन्दरी है। रानी वासवदत्ता सर्वदा सचेष्ट रहती है कि वह राजा उदयन के दृष्टिपथ मे न आने पावे, इससे उसकी सुन्दरता का आभास मिलता है। सुसंगता द्वारा चित्रित उसके चित्र के दर्शन-मात्र से राजा उदयन प्रेमाभिभूत होकर जिन शब्दो मे उसके सौन्दर्य-जनित प्रभाव का वर्णन करते है, उनसे उसका अप्रतिम सौन्दर्य ही लक्षित होता है। उदयन कहते है :—

"दृशः पृथुलीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष-
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखै. समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम्" ॥२-१६॥

'इस त्रिलोकसुन्दरी ललना का निर्माण करके तथा अपने पद्मपत्र की कान्ति को भी पराजित करनेवाले रूप को विधाता निश्चय ही आश्चर्यचकित होकर आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए चारो मुखो से एक साथ धन्य है, धन्य है कहने लगे होंगे और उनके सिर हिलने लगे होंगे।'

रत्नावली कला-पारगता नारी है। चित्रकला में उसे विशेष कौशल प्राप्त है। उदयन के प्रति आकर्षित होने के अनन्तर वह चित्र द्वारा ही अपना मनोविनोद करने की चेष्टा करती है। उदयन का चित्र अत्यन्त

कौशल के साथ अंकित कर साक्षात् दर्शन का सुख अनुभव करती है। उसकी चित्रकला की प्रशंसा उसकी सखी सुसगता द्वारा हुई है। वह उच्चकुलोद्भवा कन्या है। इसीलिए उसे अपने वंश की मर्यादा का पूर्ण ध्यान है। वह अपने वंश का परिचय अपनी अभिन्नहृदया सखी सुसंगता तक को नहीं देती। क्योकि दासी के रूप मे जीवन-यापन करने के कारण वश का परिचय देने से पितृकुल का अपमान होगा। इसलिए सुसंगता के पूछने पर उसकी आँखे वेदना के अश्रुओ मे निमज्जित हो जाती हैं और वह मूक रहकर ही अपनी व्यथा का तथा अपने सद्वंश का एक साथ परिचय देती है। परिस्थितिवश उसे राजकन्या होकर दासी बनना पड़ा है। जिसके कारण वह आत्मग्लानि का अनुभव करती है तथा आत्म-विगर्हणा करते हुए अपने जीवन को धारण भी नही करना चाहती। किन्तु उदयन के रूप मे अपने प्रेम पात्र को पाकर उसमे जीवन की लालसा जग जाती है। इसीलिए वह कहती है—"ता परप्पैसणदूसिदं पि मे जीविदं एदस्स दंसणेण दाणिं बहुमतं संवुत्तम्।" यद्यपि मेरा जीवन पर दास्य भाव के कारण दूषित हो गया है तथापि इस समय इनके दर्शन से यह जीवन अभीष्ट हो गया है। और हम देखते है कि जब उसे अपने प्रेम मे निराशा दिखाई देती है उसके अभिसरण का रहस्य वासवदत्ता पर खुल जाता है तो वह उसके द्वारा अपमानित होने एवं दण्डित होने की अपेक्षा अपना अन्त ही श्रेयस्कर समझती है तथा लतापाश के द्वारा आत्महत्या के लिए तत्पर हो जाती है। वंशाभिमान के कारण ही उसमे आत्मसम्मान की भावना है। वह अपमान सहती हुई निर्लज्ज जीवन व्यतीत करके प्रेम नही करना चाहती।

उदयन के प्रति रत्नावली का प्रेम वासना-जनित नही है और न उसमे हृदय का अन्धत्व ही है। वह सहसा उदयन की ओर आकर्षित नही होती। पहले तो वह उसके कुसुमायुधोपम सौन्दर्य की प्रशसक ही रहती है किन्तु जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि यह वही उदयन है, जिनके लिए वह प्रदान की गई है, तो सौन्दर्य का वह आकर्षण प्रेम का

रूप धारण कर लेता है। इसलिए उसका यह प्रेम-व्यापार औचित्य की सीमा से परे नहीं है। सुसंगता ने इन शब्दा मे उसके प्रेम के औचित्य की प्रशंसा की है—"न कमलाकरं वर्जयित्वा राजहंस्यन्यत्राभिरमते।" 'कमलाकर को त्यागकर राजहंसी अन्यत्र अनुराग नही करती।' फिर भी उसे अपनी दशा का ज्ञान है। इस लए उसे अपने प्रेम करने पर अनुताप भी होता है। एक ओर तो उसे विरह से विदग्ध होने का सन्ताप है और दूसरी ओर अपनी पराधीनावस्था का अनुताप है। इस अवस्था मे वह मृत्यु की कामना करती है और उसे ही अपनी कष्ट मुक्ति का साधन मानती है—

"दुल्लह जणाणुराओ, लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं प्पेमं मरणं सरण णवरमेक्कम् ॥२-१॥

'मैने दुर्लभ जन पर अनुराग किया है, लज्जा अधिक है, स्वतन्त्र भी नही हूँ। अतः हे प्रिय सखी, इस दशा मे प्रेम विषम है, अब तो केवल मृत्यु ही शरण है।' सन्ताप की इस विपमावस्था मे उसे सखियो के ताप शमनोपचार भी अच्छे नही लगते। उसकी यह विषमावस्था उस समय और भी बढ जाती है, जब वह अपने चित्र को उदयन के हाथ मे देखकर उनकी भावना को जानने के लिए उत्सुक होती है। वह कहती है—"किं एसो भणिस्सदित्ति जं सच्चं जीविदमरणाणं अन्तरे वट्टामि" 'ये क्या कहते है, इस समय मै सचमुच जीवन और मरण के मध्य मे हूँ।' और जब उसे ज्ञात हो जाता है कि चित्रदर्शन-मात्र से राजा भी उसके प्रति आकर्षित होकर प्रेमाभिभूत हो गये है, तो वह समास्वासित हो जाती है और धैर्य धारण करके प्रेम के पथ पर अग्रसर होती है। सुसंगता द्वारा साक्षात्कार का आयोजन करने पर वह नारी-सुलभ आह्लादमय रोष उस पर प्रकट करती है। कुशल कलाकार ने उसके हृदय के प्रेम की व्यञ्जना उसी के शब्दों मे इस प्रकार कराई है—"साग०—(सासूयं सुसगता-मावलोक्य) – सहि ईदसो चित्तफलओ तुए आणीयो'—'(रोष से सुसंगता को देखकर)—सखी, चित्रपट तो इस प्रकार तुम खूब लाई।' प्रियतम

के द्वारा प्रेमावलम्ब पाकर वह अपनी दशा को समझती हुई भय, लज्जा, आवेग वेदना, उत्साह, सन्तोष आदि विभिन्न विरोधी भावो से आन्दोलित होती हुई प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है। केवल उसी दशा मे आत्म-हत्या को तत्पर होती है जब उसे असफलता का भान होता है और अपने अपमान की आशंका होती है। हर्ष ने रत्नावली की इस द्विधामय अवस्था का चित्रण कुशलता के साथ किया है। उसके हृदय मे उदयन के प्रति प्रेम, वासवदत्ता से भय, सुसगता के प्रति भगिनीवत् स्नेह और अपने जीवन के प्रति ग्लानि और मोह एक साथ है।

वासवदत्ता महाराज उदयन की प्रधान महिषी है। जिसके प्रेम का आतक उदयन पर छाया हुआ है। राजा उदयन उसके अनन्य प्रेम के प्रति विश्वस्त है। उसका प्रेम अपने पति के प्रति इतना प्रगाढ है कि वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को प्रेम की मधुलहरी मे मग्न करना चाहती है। राजा उदयन भी उसकी प्रेम-भावना का सम्मान करता है। उसने अपने प्रेम से राजा को एक प्रकार से जीत लिया है। इसीलिए राजा को एक ओर तो यह भय है कि प्रगाढ प्रीति मे अन्तर आने पर वह अपने प्राणो का परित्याग न कर दे—"प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ प्रकष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्य' हि भवति।" 'आज प्रिया मेरे इस स्पष्ट अपराध को सहन न करने के कारण जीवन का परित्याग कर देगी क्योकि गम्भीर प्रेम का अपराध बड़ा भयानक होता है।' दूसरी ओर राजा उससे इतना भयभीत है कि उसके सामने आते ही सागरिका के प्रति अपने प्रेम की निस्सारता सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करता है तथा उसके चरणो में गिरकर क्षमा-याचना करता है। इससे सिद्ध होता है कि वासवदत्ता का राजा पर कैसा अधिकार है। रानी 'वासवदत्ता उदयन पर अपना एकाधिकार चाहती है। वह अपने प्रेम मे हस्तक्षेप अथवा विभाजन सहन नही कर सकती। वह उदयन की रूपलिप्सा से भी पूर्ण परिचित है। इसीलिए किसी सुन्दरी को उसके सम्पर्क मे ,नही आने देना चाहती। कामार्चन के समय सागरिका की उपस्थिति देखकर वह

शंकित हो उठती है और दासियो की असावधानी पर खीझकर स्वतः ही कहने लगती है—"अहो, पमाओ परिअणस्स।" 'अहा, परिजनो का कैसा प्रमाद है।"

वासवदत्ता मे सपत्नी जैसी ईर्ष्या भावना भी है। इसीलिए वह उदयन को सागरिका से प्रेम करते हुए देख नही सकती। पहली बार सागरिका के चित्र के साथ उदयन का चित्र देखकर सिर की पीड़ा का बहाना करके अपना मान प्रकट करती है। दूसरी बार सागरिका के अभिसार का रहस्य जानकर राजा के प्रति रुष्ट होती है और उसके चरणो मे पतित होने पर भी प्रसन्न नही होती। रुष्ट होकर चली जाती है। लेकिन राजा के प्रति प्रेमाधिक्य के कारण अधिक समय तक रुष्ट नही रह पाती। राजा की दीनता और अपनी कठोरता का स्मरण करके उसे पश्चात्ताप होता है और वह राजा को प्रसन्न करने की कितनी सुन्दर, कोमल एवं भावुकतापूर्ण कल्पना करती है—"तेण हि अलक्खिदा एव्व पुट्ठदो गदुअ कण्ठे गेण्हिअ पसादइस्सम।" 'तब तो छिपकर ही पीछे जाकर गले से लिपटकर उन्हे प्रसन्न कर लूँगी।' इससे रानी के उदार एवं प्रेमी हृदय का परिचय मिलता है। स्वयं राजा उदयन उसकी विशाल हृदयता की प्रशंसा करते है।

वासवदत्ता मे जो भी कठोरता है, वह है अपने प्रेम मे व्यवधान के कारण। वैसे वह अत्यन्त सरल और उदार है। उसका परिजनो के प्रति भी सौहार्दपूर्ण व्यवहार है। वह उदयन को भी कुपित होकर बँधवा अवश्य लेती है, लेकिन प्रियतम का मित्र होने से उसे सम्मान के साथ मुक्त कर देती है और दासी होकर भी सपत्नी बनने का प्रयत्न करने की धृष्टता के कारण सागरिका को अन्तःपुर में बन्दिनी बनाकर डाल देती है। किन्तु अग्नि की घटना पर घबराकर उसे बचाने की प्रार्थना उदयन से आतुरता के साथ करती हुई कहती है—"एसा क्खु मए णिग्घिणाए इध निअडेण संजमिदा साअरिआ विवज्जदि। ता तं परित्ताअदु अज्जउत्तो।" 'मुझ निष्ठुर ने सागरिका को निगड़बद्ध करके विपत्ति मे

डाल दिया है। अतः उसे आर्यपुत्र, बचाइए।' और जब उसे ज्ञात होता है कि सागरिका उसकी बहिन रत्नावली है तो उसे अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप होता है। वह उसे वस्त्राभूषणो से अलंकृत करके राजा से उसे स्वीकार करने की प्रार्थना करती है। इस प्रकार अन्त मे उसका चरित्र खिल जाता है।

नारी पात्रो मे दासी सुसंगता का चरित्र भी महत्त्वपूर्ण है। वह सागरिका की सखी है। उसके प्रेम को जानकर वह उसे उत्साहित करती है तथा उदयन से उसे मिलाने का प्रयत्न करती है। वह उसकी विरह दशा में ताप को शान्त करने के लिए मृणाल वलय बनाती है, कमल पत्रो की शय्या इत्यादि का निर्माण करती है। वह भी चित्रकला मे दक्ष स्त्री है। वह अत्यन्त वाक्पटु है। उदयन से वार्तालाप के समय वह अपनी वाक्पटुता का परिचय देती है। वही प्रयत्न करके कुशलतापूर्वक सागरिका और उदयन का मिलन करा देती है। वह सागरिका के अभिसार की योजना भी बनाती है, पर रहस्योद्घाटन होने से उसमे सफलता नही मिलती। उसका अपना कोई स्वार्थ नही है। हर समय अपनी सखी के लिए चिन्तित रहती है। वह एक आदर्श सच्ची सखी है।

इस प्रकार हम देखते है कि हर्ष का चरित्राङ्कन अत्यन्त सुन्दर है। उनकी तूलिका का रंग पाकर चित्रो मे सुन्दरता आ गई है। सभी चरित्रो का अकन नाटिका के अनुरूप ही हुआ है।

रस-परिपाक—नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार नाटिका मे धीर ललित नायक की प्रणय लीलाओं का चित्रण हुआ करता है। अतएव शृंगार रस का प्राधान्य होता है। रत्नावली नाटिका मे भी शृंगार ही अंगी रस है। प्रथम अंक मे वसन्तोत्सव और कामार्चन के दृश्यो की योजना शृंगार के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करती है तथा उसमे भी वासवदत्ता एवं उदयन के प्रेम का सुन्दर चित्रण हुआ। उसके अनन्तर उदयन तथा सागरिका-रत्नावली के प्रणय के आधार पर नाटिका आधारित है। शृंगार के संयोग एवं विप्रलम्भ दोनो ही अंको का चित्रण

'रत्नावली' मे सफलता के साथ हुआ है। कवि ने मान का अङ्कन करने का भी सफल प्रयत्न किया है।

प्रेम का उदय गुण श्रवण, चित्र दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि के द्वारा होता है। सागरिका कामार्चन के समय देवी वासवदत्ता के साथ उदयन का दर्शन लतामण्डप की ओट से करती है। पहले तो वह उसके सौन्दर्य को देखकर विस्मय विमुग्ध हो जाती है तथा उसे प्रत्यक्ष काम का भ्रम होता है। किन्तु वैतालिक के मुख से उदयन का परिचय पाकर वह उसके प्रति आकर्षित होकर प्रेम से अभिभूत हो जाती है। उदयन के हृदय मे प्रेम का आविर्भाव चित्र दर्शन के द्वारा होता है। सागरिका के द्वारा अङ्कित अपने चित्र के साथ सुसंगता द्वारा अङ्कित सागरिका का चित्र देखकर तथा सारिका के मुख से उसकी प्रेम दशा को सुनकर राजा के हृदय मे भी प्रणय की ज्वाला प्रज्वलित होने लगती है। वह चित्रस्था सागरिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए अपनी रसिकता का परिचय इस प्रकार देता है :—

"कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले,
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरंगविषमे निःस्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ,
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने" ॥२-११॥

'मेरी दृष्टि अत्यन्त कठिनाई से दोनो उरुओ के प्रदेश को पार करके पर्याप्त समय तक नितम्ब-स्थल मे भ्रमण करती रही। फिर उसकी त्रिवली रूपी विषम तरंगो के मध्य मे फँसकर निश्चल हो गई (अर्थात् मै इकटक नेत्रो से त्रिवली के सौन्दर्य को देखता रहा)। फिर प्यासी होने के कारण वह इस समय बड़ी कठिनता से ऊँचे उरोज रूपी पर्वतो पर चढकर साभिलाष होकर बार बार जल की बूँदें गिराती हुई उसकी आँखो को देख रही है।' चित्र के इस सौन्दर्य ने तथा उस चित्र मे अङ्कित सागरिका के आर्द्र नेत्रो ने उदयन के हृदय मे प्रेम का अंकुर जमा दिया। यहाँ तक कि उदयन उसके मुख के समक्ष चन्द्रमा को भी व्यर्थ मानने लगा।

उदयन के द्वारा ही कवि ने वासवदत्ता के सौन्दर्य का भी मनोरम वर्णन किया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के सामञ्जस्य से इस वर्णन में और भी सुन्दरता आ गई है। राजा वासवदत्ता की प्रशंसा करते हुए कहता है :—

"देवि, त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा,
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना,
लीयन्ते कुसुमान्तरेषु शनकैः सजातलज्जा इव" ॥१-२५॥

'हे देवि, देखो, चन्द्रमा के सौन्दर्य का तिरस्कार करनेवाले तुम्हारे मुख कमल से पराजित ये कमल सहसा म्लान हो गये है तथा तुम्हारे परिजनो तथा वार विलासिनियो के गीतो को सुनकर ये भ्रमरियाँ लज्जित-सी होकर तुरन्त पुष्पो मे छिप जाती है।' कवि ने प्रतीपालंकार की सहायता से वासवदत्ता के सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत की है।

शृंगार रस मे हाव वर्णन का विशेष महत्त्व होता है। हाव न केवल उद्दीपन का कार्य करते है अपितु नायिका की आन्तरिक भावनाओ के भी व्यञ्जक होते है। परकीया एवं अभिसारिका नायिका के हावो का नायक के लिए बहुत बड़ा मूल्य होता है। यद्यपि इस नाटिका मे अभिसरण के प्रत्यक्ष दृश्य को उपस्थित करके हावो का अभिनय तो नही कराया गया क्योकि यह रगमञ्चीय नियमो की दृष्टि से उचित नही था तथापि उदयन के मुख से उनका वर्णन करा दिया गया। उदयन अपनी लालसा एवं विलासप्रियता का परिचय देते हुए अभिसारिका की चेष्टाओ का वर्णन इन शब्दो मे करते है :—

"प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सकेतस्था तथापि हि कामिनी" ॥३ ६॥

'सकेत स्थान पर पहुँची हुई कामिनी यद्यपि शंकित होने के कारण

अपनी स्नेहमयी दृष्टि से प्रियतम के मुख को नही देखती, कंठ से आलिङ्गन करते समय रस के साथ अपने स्तनो को प्रिय के वक्षस्थल से सटाती नहीं है और प्रयत्नपूर्वक पकड़ने पर भी बार-बार यही कहती है कि मै जाती हूँ तथापि अत्यन्त आनन्द प्रदान करती है।' परकीया की ये चेष्टाएँ हाव के अन्तर्गत ही आयेंगी।

हर्षवर्द्धन को नारी मनोविज्ञान का सूक्ष्म ज्ञान था। प्रेयसी के प्रेम का जब उद्घाटन हो जाता है तथा वह प्रियतम के समान स्तर की न होने पर मिलन मे असम्भवता देखती है, उस समय लज्जा और ग्लानि के कारण उसकी जो मनोदशा होती है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म तथा स्वाभाविक चित्रण कवि ने किया है। सागरिका का प्रेम वासवदत्ता पर प्रकट हो जाता है। अतः वह उसकी कोपभाजना बन जाती है। उस समय होनेवाली उसकी दशा का अनुभव करते हुए उदयन कहता है :—

"ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं,
द्वयोर्दृष्टालापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकम्
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा" ॥३-४॥

'मेरा प्रेम प्रकट हो गया है, यह जानकर लज्जा के कारण वह अपने मुख को सबसे छिपाती है, दो व्यक्तियो को वार्तालाप करते हुए देखकर समझती है कि मेरे सम्बन्ध मे ही ये बाते कर रहे है, सखियो के मुस्कराने पर अत्यधिक लज्जा प्रकट करती है। इस प्रकार वह प्रायः हृदय मे छिपे हुए आतंक से पीड़ित रहती है।' प्रेम की असफलता, अपनी पराधीन अवस्था, अपनी हीनता के अनुभव से जो लज्जा, ग्लानि, पीड़ा, भय आदि भावनाएँ उत्पन्न होती है, उनकी व्यञ्जना कवि ने एक साथ की है।

'रत्नावली' मे यद्यपि वियोग शृंगार का प्राधान्य है तथापि संयोग का भी अभाव नही। काम-पूजन के समय उदयन और वासवदत्ता की प्रेममयी भावनाएँ संयोग शृंगार के अन्तर्गत ही आवेगी। वहाँ उदयन

आश्रय, वासवदत्ता आलम्बन, वासवदत्ता का अनिन्द्य सौन्दर्य, मकरन्दोद्यान, वसन्तकाल एवं वासवदत्ता की काम पूजन विधि उद्दीपन तथा उदयन द्वारा सौन्दर्य वर्णन अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भाव है। इस प्रकार संयोग शृंगार की पुष्टि हो जाती है। संयोग का दूसरा अवसर सुसंगता द्वारा सागरिका को उदयन से मिलाने के समय आता है। वहाँ प्रेम का उदय दोनो के हृदय मे हुआ है। अतएव एक के अनुभाव दूसरे के लिए उद्दीपन का कार्य करते है। उदयन द्वारा कर स्पर्श करते ही सागरिका के अंग से स्वेद द्रवित होने लगता है। यह स्वेद सागरिका का सात्विक भाव है और उदयन के लिए यह उद्दीपन भाव है। दोनो के पारस्परिक प्रेम की एक साथ व्यञ्जना कवि ने किस कौशल के साथ की है :—

"श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः" ॥२-१८॥

'यह लक्ष्मी है तथा इसका कर पारिजात पल्लव है, यदि ऐसा न होता तो यह पसीने के छल से अमृत रस कैसे प्रवाहित करता।'

प्रियतम के मिलन से संकट की घड़ियाँ भी आनन्द की सृष्टि करती है। विशेषकर परकीया प्रेम मे तो संकटकाल प्रेमियो के लिए वरदान बनकर आता है। क्योकि उस समय एक दूसरे की सहायता के बहाने संयोग का अवसर प्राप्त होता है। तभी तो कोई प्रेमिका कहती है—"आग लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन, पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन।" 'रत्नावली' मे भी इस प्रकार के अवसर की योजना की गई है। अन्तःपुर मे अग्नि लग जाने पर उदयन शृंखलाबद्ध सागरिका को बचाने के लिए आग मे ही कूद पड़ता है तथा सागरिका के समीप पहुँचकर स्पर्श सुख का अनुभव करते हुए कहता है :—"(कण्ठे गृहीत्वा निमीलिताक्षः स्पर्शसुखं नाटयन्) अहो क्षणान्मेऽपगतोऽयं सन्तापः। प्रिये समाश्वसिहि समाश्वसिहि।"

"व्यक्तं लग्नोऽपि भवती न दहत्येव पावक ।
यत संतापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये ।।"

'(कण्ठ से लगाकर, नेत्र बन्द कर, स्पर्श सुख का अभिनय करते हुए) अहा, मेरा सन्ताप क्षण भर में दूर हो गया । प्रिये धीरज धरो, धीरज धरो । अग्नि प्रत्यक्ष रूप से लगी होने पर भी तुमको जला नही सकती क्योकि हे प्रिये, तुम्हारा स्पर्श ही इसके सन्ताप को हरण कर देता है ।' इस प्रकार कवि ने सयोग श्रृंगार का परिपाक सफलता के साथ किया है ।

विप्रलम्भ श्रृंगार मे सागरिका और उदयन का प्रेम पूर्वानुराग की कोटि में आयेगा । वियोग की अग्नि से प्रज्वलित होती हुई सागरिका के प्रलाप का यह वर्णन उसके हृदय की वेदना को सूचित करता है :—
"कहं अ अदिनिसंस जम्मदो पहुदि सहसंवड्ढिदं इमं जणं परिच्चइअ खणमेत्त दंसण परिचिदं जणं अणुगच्छन्तो ण लज्जसि । अह वा को तुह दोसो । अणङ्ग सर पडण भी देण तुए एव्वं अज्ज व्यवसिदं । भोदु । अणंग दाव उबालहिस्स भअव कुसुमाउह निज्जि असअल सुरासुरो भविअ इत्थिआजणं पहरन्तो कंध ण लज्जसि । अहवा अणङ्गोसि । सव्वहा मम मन्दमाइणीए मरण एव्व इमिणा दुण्णिमित्तेण उवत्थितं ।"
'हे क्रूर मन, जन्म से बढ़ते हुए इस जन के प्रेम को छोड़कर क्षण भर के दर्शन से परिचित व्यक्ति का अनुगमन करते हुए तुम्हे लज्जा नही आती । अथवा तुम्हारा क्या दोष ? तुम तो कामदेव के बाणो से भयभीत होकर ऐसा कर रहे हो । अथवा, कामदेव को ही उपालम्भ दूँगी । भगवान् कामदेव, समस्त देवता और राक्षसो के विजेता होकर स्त्री पर प्रहार करते हुए तुम्हे लज्जा नही आती । किन्तु तुम तो अनङ्ग ही ठहरे । तो यह मुझ अभागी के मरने का ही दुर्निमित्त उपस्थित हुआ है ।' सागरिका के इस कथन से एक साथ ही उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि एव मरण नामक विरह दशाओ की व्यञ्जना होती है । वियोग के समय शीतोपचार और भी दाहक प्रतीत होते है । इसी कारण सुसंगता द्वारा लाये हुए

नलिनी पत्र एवं मृणालवलय आदि को तुरन्त वह अपने से अलग कर देती है।

उदयन की विरहावस्था का चित्रण भी कवि ने कुशलता के साथ किया है। उसकी दशा भी सागरिका के वियोग मे अत्यन्त क्षीण हो जाती है। कामदेव के बाणो से आहत होकर वह भी उसे सम्बोधित करते हुए कहता है :—

बाणा॰ पञ्च मनोभवस्य नियतास्तेषामसंख्यो जनः
प्रायोऽस्मद्विध एव लक्ष्य इति यल्लोके प्रसिद्धि गतम्।
दृष्टं तत्त्वयि विप्रतीपमधुना यस्मादसख्यैरयं
विद्धः कामिजनः शरैरशरणो नीतस्त्वया पञ्चताम् ॥३-३॥

'कामदेव के पॉच ही बाण होते है और ससार मे यह प्रसिद्ध है कि मेरे समान असंख्य व्यक्ति उनके लक्ष्य होते है। किन्तु हे काम, तुम्हारी यह बात आज मुझे विपरीत ज्ञात होती है। क्योकि यह कामी (मै) तुम्हारे द्वारा असख्य बाणो से विद्ध किया जाकर मृत्यु की ओर ले जाया जा रहा है।'

वियोगावस्था मे प्रिय से सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तु ही अत्यन्त सुन्दर और प्रिय प्रतीत होती है। क्योकि वियोगी की व्यथा को उससे ही कुछ शान्ति मिलती है। इसीलिए उदयन जब विदूषक से सागरिका की रत्नमाला को प्राप्त करता है, तो उसे प्रसन्नता होती है तथा वह उससे सान्त्वना प्राप्त करता हुआ कहता है :—

"कण्ठाश्लेष समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयाऽनया।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम ॥"

'उसके (सागरिका के) कण्ठ से आलिङ्गन पाकर फिर उससे बिछुड़कर मेरे समान अवस्थावाली सखी (विरहिणी) के समान यह मेरे शरीर को सान्त्वना प्रदान करती है।' उदयन के सन्तोष के दो कारण है। एक तो रत्नमाला प्रियतमा के कण्ठ मे रह चुकी है। इसलिए उसका

स्पर्श प्रियतमा के स्पर्श का अनुभव कराता है। दूसरे वह भी उसी के समान प्रियतमा से वियुक्ता है। समदुःखिनी होने के कारण उससे मिलकर उसे यह सन्तोष होता है कि विरह की वेदना केवल उसे ही नही है, अन्य भी उसके समान पीड़ित है। इस प्रकार शृंगार मे दोनो पक्षो का परिपाक सफलता के साथ हुआ है।

कवि ने विदूषक की योजना करके हास्य की सृष्टि करने का भी प्रयत्न किया है। विदूषक की मूर्खतापूर्ण उक्तियाँ एवं चेष्टायें हास्य-जनक होती है। वह जहाँ-तहाँ बिना बिचारे नृत्य करने लगता है। उसका नृत्य ही चित्रपट के गिरने का कारण बनता है। जिससे हास्य की सृष्टि हो जाती है। मदन महोत्सव मे नृत्य करती हुई चेटियो के साथ वह अचानक नाचने लगता है तथा उनके गान को चर्चरी बताता है। जब वे कहती है कि यह द्विपदी खंड है तो वह प्रसन्न होकर कह उठता है—"कि एदिणा खण्डेण मोअआ करीअन्दि।" क्या इस खाँड से लड्डू बनते है। उसकी यह उक्ति हास्य की उत्पत्ति करती है। किन्तु 'रत्नावली' का हास्य उदात्त कोटि का नही माना जा सकता।

यद्यपि 'रत्नावली' अन्तःपुर के प्रणय का चित्रण करने के निमित्त ही लिखी गई है तथापि कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए रुमण्वान के युद्ध का वर्णन करके वीर रस का संचार भी किया है। नाटकीय कथानक के विकास की दृष्टि से रुमण्वान द्वारा कोशल विजय की घटना का कोई महत्त्व नही है। यदि नाटिका से इस घटना वर्णन को निकाल भी दिया जाय तो नाटिका के रचना-सौष्ठव एवं कथानक के गठन मे चारुता ही आयेगी। अतः ज्ञात होता है कि केवल वीर रस की सृष्टि के लिए इसे महत्त्व दिया गया है। कितनी ओजपूर्ण शैली मे युद्ध का वर्णन कवि ने किया है :—

"अस्त्रव्यस्तशिरश्च शस्त्र कृषणै. कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्गमद्वह्निनि।

आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भग्वे प्रधाने बले
ह्येकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः" ॥ ४।६ ॥

'जिस युद्ध मे अस्त्रो (बाणो) से योद्धाओ के शिरस्त्राण दूर फेके जा रहे थे, शस्त्रो (कृपाणो) से सिर काटे जा रहे थे, शोणित की सरिता बह रही थी, शस्त्र झनकार रहे थे और शस्त्रो की चोट से कवचो से अग्नि की स्फुलिंगे निकल रही थी उसमे सेनापति रुमण्वान ने मतवाले हाथी पर बैठे हुए तथा पराजय के निवारण की चेष्टा करते हुए कोसल-नरेश को ललकारा और सैकड़ो बाणो से मार गिराया।' कवि की नादमयी शब्दावली युद्ध का चित्र उपस्थित करते हुए वीर रस का परिपाक करने मे समर्थ है।

कवि ने सहसा राजकीय बन्दर के छूट जाने तथा अन्तःपुर मे आग लगने की घटना का वर्णन करके भयानक रस का संचार किया है। बन्दर को देखकर स्त्रियाँ भयभीत होती है, नपुसक लज्जा छोड़कर भाग खडे होते है, वामन कञ्चुकी के वस्त्र मे छिपने की चेष्टा करते है, किरात इधर-उधर हटकर आश्रय की खोज करते है और कुब्जे डर से सिकुड़ जाते है (२-३)। बन्दर के छूटकर भागने का बड़ा स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है (२-२)। इसी प्रकार अन्त पुर मे अग्नि लगने के कारण जो आतंक उपस्थित होता है उसका चित्र हर्ष की तूलिका से कितना सुन्दर बन पड़ा है :—

"हर्म्याणा हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः।
कुर्वन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः" ॥४-१४॥

"अरे, अन्तःपुर मे अचानक अग्नि लग गई है, जिससे भयभीत होकर स्त्रियाँ आर्त्तनाद कर रही है। अग्नि की लपटो के फैल जाने से राजप्रासादो के शिखर स्वर्णकान्ति के सदृश हो गये है, उद्यान के घने वृक्षो को झुलसाकर अग्नि ने अपने तीव्र ताप को प्रकट कर दिया है तथा अग्नि मे

उठे हुए धुएँ के कारण क्रीड़ा पर्वत सजल मेघ के सदृश काला हो गया है।''

इसी अग्नि की घटना द्वारा कवि ने वासवदत्ता के शोक की भी व्यञ्जना की है। वसुभूति के द्वारा रत्नावली के समुद्र मे डूबने के समाचार को सुनकर भी वासवदत्ता रो पड़ती है। वहाँ भी करुण रस का आभास मिलता है। ऐन्द्रजालिक के चमत्कारो ने अद्भुत रस की सृष्टि की है। वास्तव मे हर्ष की यह कल्पना उनकी उद्भाविनी प्रतिभा का अपूर्व निदर्शन है।

इस प्रकार हम देखते है कि शृ गार रस का प्राधान्य होते हुए भी हर्ष ने अन्य रसो की सफल व्यञ्जना करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है और उसमे वे सफल भी हुए है।

प्रकृति-चित्रण—'रत्नावली' मे अन्तःपुर की प्रेम लीला का चित्रण है। इसलिए सामान्यतः उसका वातावरण प्रकृति के क्षेत्र से भिन्न है। प्रकृति के केवल उसी रूप का दर्शन हमे मिलता है, जिसमे उसे स्वच्छन्द विकास का अवसर नही और जो मालियो द्वारा नियन्त्रित होकर राजोद्यान तक ही सीमित है तथा राजा के प्रेम व्यापारो की उद्दीपिका एवं प्रेम कीड़ाओ की क्रीड़ास्थली है। अतएव 'रत्नावली' मे प्रकृति का उद्दीपन रूप मे ही चित्रण अधिक हुआ है। वसन्तोत्सव मनाने के लिए उद्यत नर-नारियो को मकरन्दोद्यान भी मदमत्त दिखाई पड़ता है। राजा उदयन भी रानी वासवदत्ता का आमन्त्रण पाकर प्रेम-मद मे झूम उठाता है और अपने भावो का प्रतिबिम्ब मकरन्दोद्यान मे देखता हुआ कहता है:—

> "उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
> भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः।
> घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहु-
> र्भ्रान्ति प्राप्य मधुप्रसगमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः" ॥१-१७॥

'इस समय मधु (चैत्र-वसन्त, मधुरता, शहद, पराग) के प्रसंग से ये वृक्ष भी मतवाले से ज्ञात होते है। क्योकि मूँगे के सदृश कान्तिवाले नव-

पल्लवो के निकलने से लालिमायुक्त तेज को धारण कर रहे है, भ्रमर-पंक्ति का सुन्दर शब्द ही उनकी अस्पष्ट एवं अस्फुट शब्दावली है। मलयानिल के चलने से वे वृक्ष बार-बार हिलने लगते है, जिससे ज्ञात होता है कि वे मदमत्त होकर झूम रहे है।'

स्वच्छन्द गति से प्रवाहित होनेवाला शीतल, मन्द, सुगन्ध दक्षिण पवन अत्यन्त मादक होता है। मदनलीला का अभिनय करती हुई चेटियाँ उसके प्रभाव का वर्णन अपने द्विपदी खंड मे इस प्रकार करती है—

"कुसुमाउहपि अदूअओ मउली किद बहुचूअओ।
सिढिलि अमाणग्गहणओ वाअदि दाहिण पवण ओ" ॥१-१३॥

'कामदेव का प्रिय दूत, आम्र वृक्षो को मुकुलित करनेवाला, मान की गाँठ को शिक्षित करनेवाला दक्षिण पवन चल रहा है।'

कुशल कवि प्रकृति के माध्यम से भावी और विगत घटनाओ की सूचना भी देते है। हर्ष ने भी अत्यन्त कौशल के साथ सन्ध्या का वर्णन करते हुए सागरिका तथा उदयन के भावी मिलन की सूचना दी है और प्रकृति के माध्यम से ही उदयन और सागरिका की प्रेम-लीला से वासवदत्ता के क्रोधित होने की ओर संकेत किया है। पताकास्थानक के विवेचन मे प्रकृति के इस स्वरूप को उपस्थित किया जा चुका है। यहाँ पिष्ट-पेषण की अपेक्षा नही।

हर्ष ने आलकारिक रूप मे भी प्रकृति को अपनाया है। न केवल उपमानो के लिए प्रकृति के उपादानो को ग्रहण किया है और अपितु प्रकृति और नारी सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्र भी उपस्थित किया है। वासवदत्ता के सौन्दर्य-वर्णन मे इस चित्र को उद्धृत किया जा चुका है। कहीं-कही नारी-सौन्दर्य के समक्ष प्रकृति की हीनता भी प्रदर्शित की गई है। सागरिका के मुख के समक्ष चन्द्रोदय व्यर्थ है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि मनुष्य प्रकृति मे अपनी भावनाओ का दर्शन करता है। संयोग के क्षणो मे प्रकृति उल्लसित दृष्टिगत होती है

तथा वियोगावस्था मे वह भी स्वयं पीड़ित प्रतीत होती है अथवा पीड़ा की उत्तेजक होती है। राजा उदयन वासवदत्ता के प्रेम के विषय मे इतना विश्वस्त है कि वह सोचता है कि वह मेरी मूर्ति अपने हृदय मे हर समय धारण किये रहती है इसलिए हर समय ध्यान करने के कारण उसके मुख पर पीताभा उसी प्रकार झलकती है जिस प्रकार सन्ध्याकाल के समय चन्द्रोदय से पूर्व प्राची दिशा के मुख पर वही पीतिमा रहती है। उदयन कहता है :—

"उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी" ॥१-२४॥

'यह प्राची दिशा अपने पाण्डुवर्ण के मध्यभाग से उदयाचल पर्वत के तट प्रदेश में अवस्थित चन्द्रमा की सूचना उसी प्रकार दे रही है, जिस प्रकार (प्रिय के वियोग मे) पीले पडे हुए मुख से कोई रमणी अपने हृदय में प्रियतम की स्थिति को व्यक्त करती है।'

हर्ष के हृदय मे प्रकृति के प्रति प्रेम लक्षित होता है। तभी तो उसने प्रकृति-वर्णन के ये अवसर निकाल लिये है। उन्होने केवल उद्दीपन और आलंकारिक रूप मे ही प्रकृति का चित्रण नही किया है, अपितु प्रकृति-सम्बन्धी अपने सूक्ष्म निरीक्षण का भी परिचय दिया है। सन्ध्या के समय अन्धकार किस प्रकार बढ जाता है और क्रमशः अपना प्रभाव बढ़ाता जाता है, इसका वर्णन हर्ष ने इस प्रकार किया है :—

"पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिश
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति ।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमःसंघातोऽयं हरति हरकंठद्युतिहरः" ॥ ३-७॥

'शिव के नीले कंठ की कान्ति को हरण करनेवाला यह अंधकार का घनत्व पहले पूर्व दिशा को आच्छादित करता है, फिर अन्य दिशाओ को भी ढॅक लेता है। फिर क्रमशः आक्रमण करता हुआ पर्वत, वृक्ष एवं

नगर के विभागो को छिपा लेता है। इसके बाद और भी घनता धारण करता हुआ लोगो के दृष्टिफल (देखने की शक्ति) को भी हर लेता है।' इससे हर्ष के प्रकृति प्रेम का परिचय मिलता है।

समसामयिक दशा—यद्यपि इस नाटिका के लेखक भारत के यशस्वी सम्राट् हर्ष है तथा नाटिका का सम्बन्ध केवल राजा के अन्तः-पुर से ही है तथापि तत्कालीन अवस्था का कुछ न कुछ आभास अवश्य मिलता है। क्योकि कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है तथा युग उसे अवश्य प्रभावित करता है।

उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि समाज मे पुरुष तथा स्त्रियो को समान रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त थी और सामाजिक उत्सवो मे वे साथ-साथ सम्मिलित होकर अपना उत्साह प्रदर्शित करते थे। विशेषकर मदन-महोत्सव के समय फाग क्रीड़ा मे वे एक साथ भाग लेते थे। राग रग और नृत्य-गीत से वातावरण मुखरित हो जाया करता होगा। कवि ने इन शब्दों मे मदनमहोत्सव का चित्रण किया है—"मधुमत्तकामिनी स्वयं ग्राहगृहीत-शृंगकजलप्रहारनृत्यन्नागरजनजनितकौतूहलस्य समन्तत शब्दायमान-मर्दलोद्दामचर्चरीशब्दमुखररथ्यामुखशोभिनः प्रकीर्णपटवासपुञ्जपिञ्जरित-दशदिशामुखस्य सश्रीकता मदनमहोत्सवस्य।" 'मदमत्त कामिनियाँ अपने हाथो मे पिचकारी लेकर नागर पुरुषो पर रग डाल रही है, पुरुषगण कुतूहलपूर्वक नृत्य कर रहे है। चारो ओर बजते हुए मृदंग तथा चर्चरी गान आदि के शब्द से गलियाँ मुखरित हो रही है तथा उड़ाये गये गुलाल के समूह से दशो दिशाओ को मुख पीत कान्ति धारण कर रहा है।' इसी प्रकार होली खेलने के दृश्य का अंकन कवि ने इस प्रकार किया है :—

धारायन्त्रविमुक्तसंततपय.पूरप्लुते सर्वतः
सद्य.सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडेक्षणं प्राङ्गणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्" ॥१-११॥

'धारायन्त्र से निसृत जल चारो ओर फैल रहा है तथा उसी समय घनी भीड़ के मर्दन से (चलने से) आँगन मे कीचड़ हो गई है। मदमत्त कामिनियो के कपोलो से गिरते हुए सिन्दूर से वह कीचड़ लाल हो गई है तथा मनुष्यो के चरणो से लगकर वह फर्श भी लाल कर देती है।' इसी अवसर पर काम-पूजन भी होता था और पूजन के बाद वायन ब्राह्मणो को दिया जाता था। इस महोत्सव मे कुल-कामिनियो के अतिरिक्त पार वनिताये भी सम्मिलित होती थी।

समाज मे स्त्रियो की दशा उन्नत थी। वे गन, नृत्य तथा चित्रकला इत्यादि मे निपुण होती थो। दासियाँ तक भी इन कलाओ से भिज्ञ होती थी। सुसगता की चित्र-रचना तथा चेटियो के नृत्य-गान से यह प्रमाणित होता है। वे साधारणतया शृंगार भी करती थीं। अपने केशो को पुष्पो से सज्जित करती थीं,[1] चरणो को लाक्षारस से रँगती थी,[2] गले मे हार,[3] रत्नमाला,[4] हाथो मे कंकण, कानो मे कर्णाभरण[5] तथा पैरो मे नूपुर[6] धारण करती थी। पुरुषो मे भी आभूषण धारण करने की प्रथा थी। वे भी हाथो मे कंकण और कानो मे कर्णाभूषण पहनते थे। वे प्रायः उत्तरीय और अधोवस्त्र पहनते थे। वासवदत्ता वसन्तक को दो ही रेशमी वस्त्र देती है तथा कर्णाभरण भी देती है और राजा से उसे कटक मिलता है। कभी-कभी स्त्रियाँ पर्दा करती थी। वासवदत्ता घूँघट मारकर ही आती है।

मनोविनोद के लिए बडे लोगो के यहाँ सारिका आदि पाली जाती थी और उनको शिक्षा भी दी जाती थी। राजाओ के यहाँ बन्दर इत्यादि

---

[1] ३, ६ अंक १—१६।

[2] अंक।

[3] १४।

[4] अंक ४—४।

[5] उदयन।

[6] सुसंगता को कर्णाभरण देता है।

माधुर्य गुण पाया जाता है। किन्तु वीर रस के वर्णन मे ओज गुण लाने से शैली के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है तथा समस्त पदो के प्रयोग से युद्ध का रूप खचित हो गया है। कवि की एक विशेषता शैली मे चित्रात्मकता एव ध्वन्यात्मक शब्दावली का प्रयोग है। हर्ष अपनी तूलिका से प्रणय चित्रो मे ऐसे रंग भरते है तथा प्राकृतिक दृश्यो को इस सुन्दरता से अंकित करते है कि हृदय मुग्ध होकर उनकी शैली की प्रशंसा करने लगता है। दोनो प्रकार के चित्रो के पर्याप्त उदाहरण दिये जा चुके है। अतएव यहाँ और उदाहरण देकर व्यर्थ विस्तार अपेक्षित नही है। शृंगार रस एवं मधुर भावनाओ की व्यञ्जना के अनुरूप हर्ष ने अपनी नाटिका मे वैदर्भी रीति को अपनाया है। भाषा को शक्तिमती बनाने के मिमित्त कवि ने व्यग्य का प्रयोग किया है। सूत्रधार के कथन (द्वीपादन्यस्यादभिमुखीभूतः ॥१-६॥) मे समस्त भावी कथा व्यंग्य है। इसी प्रकार सौन्दर्य चित्रो मे भी व्यंग्यार्थ का चमत्कार दृष्टिगत होता है। हर्ष ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। विदूषक तक नारी पात्र शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते है। नाटिका प्रणय-प्रधान है इसलिए सभी पात्र मधुर पदावली का प्रयोग करते है। राजभवन के वातावरण के चित्रण के कारण भाषा मे शिष्टताजनित मर्यादा है। विदूषक की भाषा उसकी प्रकृति के अनुकूल है। वह सारिका के बोलने के लिए 'कुरकुराअदि' (कुरकुरायत) शब्द का प्रयोग करके अपनी खीज का परिचय देता है, जो अन्य के लिए हास्यजनक होती है। हर्ष के वाक्य प्रायः छोटे-छोटे है तथा संवादो में भी दीर्घता नही है। इसलिए अभिनेयता की दृष्टि से भी उनकी भाषा उपयुक्त है। वैसे भी दृश्यो की सरलता, कथानक की सम्बद्धता एवं संक्षिप्तता तथा पात्रो की न्यूनता आदि के कारण 'रत्नावली' संस्कृत के अन्य नाटको की अपेक्षा अभिनय की दृष्टि से सफल रचना है। हर्ष ने कही-कही सूक्तियों का प्रयोग करके अर्थ को गम्भीरता प्रदान की है तथा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'कष्टोऽयंखलु भृत्यभावः', 'न कमलाकरं वर्जयित्वा राजहंस्यन्यत्राभिरमते', 'इयं अनभ्रावृष्टि', 'कि पुनः साहसिकानां पुरुषाणा न सम्भाव्यते', 'घुणाक्षरमपि कदापि

सम्भवत्येव', 'प्रकष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्य' हि भवति' तथा 'मनश्चलं प्रकृत्यैव' इत्यादि इसी प्रकार के प्रयोग है।

हर्ष ने अपनी भाषा को कृत्रिम अलंकारो से सजाने का प्रयत्न नही किया है। फिर भी स्वभावत उनकी भाषा मे अलकारो की सुन्दर योजना हुई है। वास्तव मे अभीष्ट अर्थ की व्यञ्जना के लिए अलंकारो का प्रयोग आवश्यक है। सामान्य जन भी अपनी बोल-चाल की भाषा मे अलंकारो का प्रयोग करते है। पर वे अलंकार विशेष के लिए प्रयत्न नही करते। हर्ष की भाषा मे भी इसी प्रकार अलंकार स्वतः ही आ गये है। सौन्दर्य-वर्णन के लिए उन्होने उपमा, उत्पेक्षा, प्रतीप, अतिशयोक्ति आदि अलंकारो का अधिक प्रयोग किया है। वैसे विभावना, दृष्टान्त, समासोक्ति, अन्योक्ति आदि अलकार भी आ गये है। शब्दालंकारो मे कवि को श्लेष अधिक प्रिय प्रतीत होता है। श्लेष से पुष्ट उपमा एवं रूपक का यह सुन्दर प्रयोग देखिए :—

"लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव" ॥२-६॥

'अपने सौन्दर्य से लक्ष्मी को तिरस्कृत करनेवाली, चित्रस्थ यह कौन रमणी है जो हमारे ऊपर अपनी अनुकूलता प्रदर्शित करती हुई, विचित्र गतिवाली, अपनी लीला से कमलो को हिलाती हुई अत्यधिक पख फैलाती हुई राजहंसी के समान हमारे हृदय रूपी मानसरोवर मे प्रविष्ट हो रही है।'

यद्यपि सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग मे कवि की प्रतिभा के प्रकाशक कई पद्य उद्धृत किये जा चुके है तथापि वक्रोक्तिगर्भित प्रतीपालङ्कार के विशेष चमत्कार को प्रदर्शित करनेवाले इस पद्य को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता :—

"किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्येवास्ति बिम्बाधरे" ।।३-१३।।

'क्या तुम्हारा मुख पद्म की कान्ति को हरण नही करता और नेत्रो को आनन्द नही प्रदान करता ? क्या दर्शन मात्र से कामदेव रूपी सागर की वृद्धि नहीं करता। अर्थात् अवश्य करता है। तुम्हारे इस मुखचन्द्र के होते हुए भी यह दूसरा चन्द्रमा उदित हो रहा है। यदि इसे अमृत का अभिमान हो तो वह भी तुम्हारे बिम्बाधर मे है।' इस पद्य मे वक्रोक्ति और प्रतीप अलंकार के साथ श्लेष (झषकेतन) रूपक (वक्त्रेन्दौ) उपमा (बिम्बाधरे) अलंकारो की छटा भी दर्शनीय है।

कवि के छन्दो मे भी गति है। उसने भाव के अनुकूल छन्दो का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो गीति काव्य जैसा आनन्द प्राप्त होता है। रत्नावली मे अनुष्टुप, आर्या, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, प्रहर्षिणी, मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडितम्, शालिनी, स्रग्धरा, हरिणी और शिखरिणी नामक वर्णवृत्तो का प्रयोग किया है। जहाँ जो छन्द अनुकूल हुआ वहाँ उसी को अपनाया है।

इस प्रकार हम देखते है कि रत्नावली सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नही अपितु नाट्यकला और अभिनय कला की दृष्टि से भी सफल रचना है। कवि हर्ष की इस कृति के आधार पर उनका स्थान कालिदास, भवभूति और भट्टनारायण के बाद द्वितीय कोटि के कलाकारो मे आता है।

मुद्रा-राक्षस

संस्कृत साहित्य के प्रमुख राजनैतिक नाटक 'मुद्रा-राक्षस' का प्रणयन महाकवि विशाखदत्त की लेखनी द्वारा हुआ है। संस्कृत के महान् कवि अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा अपने कृतित्व को विशेष महत्त्व प्रदान करते आये है। इसी कारण उनकी जीवनगाथा अतीतान्धकार के गर्भ मे विलीन हो गई है। और साहित्य के इतिहासवेत्ताओ के निमित्त एक समस्या बन गई है कवि विशाखदत्त भी संस्कृत साहित्य के ऐसे ही निस्पृह नाटककारो की कोटि मे आते है।

उनके जीवन का थोड़ा सा परिचय उनकी अमूल्य कृति 'मुद्रा-राक्षस' की प्रस्तावना[1] से मिलता है। जिसके अनुसार इनके पितामह सामन्त बटेश्वरदत्त थे तथा इनके पिता का नाम महाराज पृथु था। कतिपय संस्करणो मे पिता का नाम महाराज भास्करदत्त भी मिलता है। इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नहो। यह भी पता नहीं है कि इनके पितामह कहाँ के सामन्त थे तथा इनके पिता को महाराज की उपाधि से किसने और क्यो विभूषित किया था और वे स्वयं केवल कवि ही थे अथवा किसी प्रदेश-विशेष के शासक।

विभिन्न विद्वानो ने मुद्रा-राक्षस के भरतवाक्य के आधार पर कवि का काल-निर्णय करने की चेष्टा की। मुद्रा-राक्षस का भरतवाक्य इस प्रकार है :—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वीज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्त्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु मही पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः" ॥

---

[1] अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्।'

श्री रामा स्वामी ने इस श्लोक के अन्तिम शब्द को दन्तिवर्मा माना है और दन्तिवर्मा पाठ के आधार पर उन्होने विशाखदत्त को दक्षिण के पल्लव-नरेश दन्तिवर्मा (७७६ ई० से ८३० ई०) का समकालीन सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु भरतवाक्य मे जिन म्लेच्छ आक्रमको का उल्लेख है, उनकी पुष्टि दन्तिवर्मा के समय मे नही होती। इतिहास इस विषय मे मूक है। इसके अतिरिक्त पल्लव-नरेश शैव थे, जब कि इसमे विष्णु की स्तुति की गई है। अतएव यह नाटक दन्तिवर्मा के समय की कृति नही है।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल एव प्रो० शारदारंजन राय ने चन्द्रगुप्त पाठ को ही ठीक माना है और उन्होने विशाखदत्त को गुप्तवंश के प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ ई०) का समसामयिक मानकर इस कृति को ४०० ई० के लगभग लिखी हुई प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है और म्लेच्छ शब्द से हूणो की ओर सकेत किया है। इसके अतिरिक्त अपने मत की पुष्टि के निमित्त उन्होने यह भी कहा है कि मुद्राराक्षस के तृतीय अंक के १६वे श्लोक (आशैलेन्द्रात्) मे जिस भारत साम्राज्य का वर्णन किया गया है, वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के युग की राजनैतिक परिस्थितियो मे ही सम्भव है, बाद मे नही। इसके साथ ही चन्दनदास के शील सौजन्य का वर्णन करते हुए उसे बोधिसत्वो से भी अधिक कहना गुप्तकालीन धार्मिक भावना को ही अभिव्यञ्जित करता है। किन्तु इन तर्कों मे सबलता नही है। सर्वप्रथम तो भारत मे हूणो का आक्रमण चन्द्रगुप्त द्वितीय के लगभग पचास वर्ष बाद हुआ था। अतः इसी से यह कृति चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की सिद्ध नहीं होती और फिर भारत साम्राज्य का यह आदर्श तो सदा ही सभी वीर नरेशो का रहा है। यह बात दूसरी है कि वह प्राप्त किसी को न हो सका। साथ ही जिस स्थल पर इस श्लोक का प्रयोग कवि ने किया है, उससे आदर्श विशेष की व्यंजना हमे तो होती नही। यह तो चाणक्य का आशीर्वाद है और वह मौर्य चन्द्रगुप्त को ही है कवि द्वारा किसी अन्य नरेश को नहीं। धार्मिक

भावनावाला तर्क भी इसी प्रकार खोखला है। अतएव विशाखदत्त को गुप्तकालीन भी नही माना जा सकता।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् याकोवी ने अवन्तिवर्मा पाठ को ठीक मानकर काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समय मे विशाखदत्त की उपस्थिति मानी है। उनके अनुसार मुद्राराक्षस मे जिस चन्द्र-ग्रहण की ओर संकेत किया है, वह २ दिसम्बर ८६० ई० मे पड़ा था। इससे सिद्ध होता है कि विशाखदत्त काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। किन्तु याकोवी महोदय की इस धारणा की पुष्टि नहीं होती।

मुद्रा-राक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज ने चन्द्रगुप्त पाठ को ही ठीक मानकर उसका अभिप्राय चन्द्रगुप्त मौर्य से ही माना है। किन्तु यह भी उपयुक्त नही है, क्योकि भरतवाक्य का सम्बन्ध प्रायः नाटक के नायक से न होकर कवि के सामयिक किसी अन्य नरेश अथवा उस काल की परि-स्थिति से ही होता है। अतएव इस नाटक को मौर्य-युग की कृति तो किसी भी प्रकार नही माना जा सकता।

श्री तैलंग महोदय ने भी अवन्तिवर्मा पाठ को शुद्ध मानकर उसका अभिप्राय कन्नौज के मौखरिवंशीय नरेश अवन्तिवर्मा से माना है, जिन्होने सन् ५८२ ई० के लगभग स्थानेश्वर-नरेश प्रभाकरवर्द्धन की सहायता से हूणो (म्लेच्छो) को परास्त किया था। अतएव विशाखदत्त का समय ईसा की छठवी शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाना चाहिए। प्रो० ध्रुव महोदय की सम्मति के अनुसार भी यही समय निश्चित होता है। पश्चिम के प्रख्यात विद्वान् मैक्डानल एवं रैप्सन आदि भी इसी समय को ठीक मानते है।

वस्तु-विवेचन—मुद्रा-राक्षस एक राजनैतिक एव ऐतिहासिक नाटक है। आचार्य चाणक्य ने अपनी राजनैतिक प्रतिभा के बल से नन्दवंश का उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के सिहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है। अब चाणक्य की अभिलाषा है कि चन्द्रगुप्त के अन्य विरोधियो

को नष्ट करके उसका मन्त्रित्व नन्द सम्राटो के विश्वस्त एवं भक्त अमात्य राक्षस को समर्पित कर दिया जाय, जो कि पाटलिपुत्र से भागकर मलय-केतु की सहायता से चन्द्रगुप्त को नष्ट करके अपने स्वामी का प्रतिकार करने के निमित्त प्रयत्नशील है। चाणक्य और राक्षस के मन्त्र-युद्ध को लेकर ही इस नाटक के कथानक की सृष्टि की गई है।

इस कथानक का मूलाधार भारतीय इतिहास का वह स्वर्णिम पृष्ठ है, जिसमे नन्द-वंश के विनाश और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के सन्धि-युग का वर्णन हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ सत्यकेतु विद्यालंकार ने आचार्य चाणक्य के चरित्र के आधार पर एक उपन्यास लिखा है, उनमे नन्द के मन्त्री के स्थान पर वक्रनास का नाम दिया है, राक्षस का नहीं। उनके मत से इतिहास मे राक्षस का उल्लेख नही मिलता तथा अन्य ग्रथो से भी उसकी सत्ता प्रमाणित नही होती। फिर मुद्रा-राक्षस के राक्षस की कल्पना का आधार क्या है? गुणाढ्य की बृहत्कथा मे चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त सम्बन्धी कथा का उल्लेख है। इसीलिए दशरूपक के प्रणेता ने बृहत्कथा को ही इस नाटक की कथा का आधार माना है। चाणक्य द्वारा नन्दवंश के विनाश और चन्द्रगुप्त का राज्याधिरोहण विष्णुपुराण एव श्रीमद्-भागवत मे भी वर्णित है। किन्तु इन ग्रथो मे उल्लिखित वृत्तो मे किम्वदन्तियो द्वारा महान् परिवर्तन हो गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि मुद्रा-राक्षस की कथा का आधार ये किम्वदन्तियाँ ही होगी। साथ ही विशाखदत्त राजनीति का प्रकाण्ड पण्डित एवं प्रयोक्ता प्रतीत होता है। उसने कौटिलीय अर्थशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया प्रतीत होता है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि तत्कालीन राज-नीति, अर्थशास्त्र तथा किम्वदन्तियो से प्रेरणा पाकर विशाखदत्त ने अपनी प्रतिभा एवं कल्पना से इस नाटक के कथानक की सर्जना की है।

नाटक की प्रस्तावना मे चन्द्रग्रहण की बात सूत्रधार के मुख से सुनकर क्रोधाविष्ट चाणक्य का ओजपूर्ण स्वर सुनाई देता है, जिसमे वह मलय-केतु द्वारा चन्द्रगुप्त के पराभव की आशंका से क्षुब्ध होकर अपनी राज-नैतिक शक्ति का अभिमान करता है और यही कहता हुआ रगमञ्च पर

उपस्थित होता है कि उसके रहते किसकी सामर्थ्य है जो चन्द्रगुप्त का अनिष्ट कर सके तथा सिह के जबडे मे हाथ डाल सके। इसके अनन्तर चाणक्य अपने क्रोधी स्वभाव का स्वगत रूप से वर्णन करता हुआ अपनी उस शक्ति की घोषणा करता है, जिसके द्वारा उसने अत्यन्त शक्तिशाली नन्दवंश को समूल नष्ट करके चन्द्रगुप्त को सिहासनासीन किया। किन्तु राक्षस को वश मे किये बिना वह नन्दवंशोन्मूलन को व्यर्थ ही समझता है। अपने इस कार्य की पूर्ति के निमित्त उसने अब तक जो प्रयत्न किया है उसका भी वर्णन करता है। पहला कार्य तो उसने यह किया है कि राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त को नष्ट करने के निमित्त प्रेषित की गई विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर का वध कराके यह समाचार प्रसारित करा दिया है कि पर्वतेश्वर की हत्या राक्षस के षड्यन्त्र द्वारा हुई है किन्तु भागुरायण द्वारा पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु से यह कहलाकर कि चाणक्य ने ही पर्वतेश्वर को मारा है, पाटलिपुत्र से उसे भगा दिया है। दूसरा कार्य उसने यह किया है कि अनेको छद्मवेशधारी विश्वस्त व्यक्तियो को अपने सहयोगी एवं विरोधियो का पता लगाने के लिए नियुक्त किया है साथ ही क्षपणक, भागुरायण तथा अन्य अनेको ऐसे व्यक्तियो को इसलिए नियुक्त किया है कि वे मलयकेतु तथा राक्षस के परम हितैषी तथा विश्वासभाजन बनकर उनका विनाश करने मे सहायक हो। इस प्रकार चाणक्य की यह स्वगतोक्ति अत्यन्त विस्तृत होते हुए भी स्वाभाविक है और नाटक की कथा के बीज को उपस्थित करने एवं चाणक्य की कूटनीति का उद्घाटन करके नाटकीय पृष्ठभूमि को निर्मित करने के कारण सामाजिको के लिए अरोचकता का कारण नही बनती।

इसी समय निपुणक नामक गुप्तचर यमपट लेकर प्रविष्ट होता है। जिससे चाणक्य को यह सूचना मिलती है कि पाटलिपुत्र मे राक्षस के पक्षपाती तीन व्यक्ति है—जीवसिद्धि क्षपणक, कायस्थ शकटदास और मणिकार श्रेष्ठी चन्दनदास। इनमे क्षपणक वास्तव मे चाणक्य का ही गुप्तचर है। प्रेक्षको को इसका पता चाणक्य की स्वगतोक्ति से चलता है।

निपुणक से चाणक्य को राक्षस की नामाङ्कित वह मुद्रिका भी प्राप्त होती है, जो चाणक्य की नीति को सफलता के चरम बिन्दु पर पहुँचा देती है, जिसके द्वारा चाणक्य मलयकेतु और राक्षस मे द्वेष-भावना की सृष्टि करता है और राक्षस को आत्मसात् करके अपने लक्ष्य की सिद्धि उपलब्ध करता है। तभी तो वह प्रसन्नता से कह उठता है कि 'ननु राक्षस एव अस्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति।' इसी मुद्रिका के आधार पर नाटक का नामकरण—मुद्रा-राक्षस—किया गया है, जो अत्यन्त उपयुक्त एव अर्थगर्भित है। सिद्धार्थक द्वारा शकटदास से रहस्यमय लेख लिखाकर उसे मुद्राङ्कित करके भावी योजना को रूप दिया जाता है। साथ ही पर्वतेश्वर के वध के दण्डस्वरूप शकटदास के वध की आज्ञा सभी को सुनाने के लिए प्रसारित की जाती है और गुप्त रूप से सिद्धार्थक को उसे वध्य स्थान से भगा ले जाने का भी आदेश दिया जाता है। पर्वतक के आभूषण उन ब्राह्मणो को दान दिलाये जाते है, जो चाणक्य के ही गुप्तचर है। तदुपरान्त चाणक्य चन्दनदास को बुलाकर उससे राक्षस का कुटुम्ब समर्पित करने के लिए कहता है—भय भी दिखाता है, किन्तु चन्दनदास इसके लिए तत्पर नही होता। तब चाणक्य क्रोधित होकर चन्दनदास की सम्पत्ति छीनने और उसे सकुटुम्ब बन्दीगृह मे डालने का आदेश देता है। पुनः चाणक्य गर्जना करते हुए मदमत्त हाथी के समान राक्षस को अपनी बुद्धिरूपी रस्सी से वश मे करने की घोषणा करता है। इस प्रकार इस अंक मे चाणक्य के नीति चक्र का पूर्ण दर्शन होता है जो राक्षस को वश मे करने के निमित्त घूम चुका है।

द्वितीय अङ्क मे राक्षस की उन राजनैतिक कूटनीतियो का परिचय मिलता है, जो असफल सिद्ध होते हुए भी उसकी राजनीति-विज्ञता को प्रमाणित करती है। राक्षस का विराधगुप्त नामक गुप्तचर जीर्ण विष संपेरे के वेष मे आकर उन्हे सूचना देता है कि उनके गुप्तचर दारुवर्मा द्वारा निर्मित स्वर्ण तोरण से असावधानीवश उन्ही का गुप्तचर वर्वरक जो हाथीवान के वेश में चन्द्रगुप्त को मारने के लिए नियुक्त था, मारा गया और फिर दारुवर्मा ने ही चन्द्रगुप्त समझकर तोरण मे लगी लोहे की कील

से पर्वतक के भाई वैरोचक को मार दिया और वैरोचक के अनुगामी सैनिको ने दारुवर्मा का वध कर दिया। इस प्रकार गृह-प्रवेश के मुहूर्त्त के समय की समस्त योजना विफल हो गई। जिस वैद्य को विषयुक्त औषधि देकर चन्द्रगुप्त को मारने का आदेश दिया गया था, वह वैद्य भी चाणक्य द्वारा उसी औषधि से मारा गया और चन्द्रगुप्त के शयनागार मे सुरंग के नीचे छिपे हुए पुरुष चाणक्य द्वारा जान लेने पर उस भवन मे अग्नि लगाकर मार दिये गये। विराधगुप्त के द्वारा राक्षस को चाणक्य की अन्य गतिविधियो—क्षपणक का निष्कासन, शकटदास के वध की आज्ञा, राक्षस द्वारा पर्वतक को मारने की प्रसिद्धि इत्यादि—की भी सूचना प्राप्त होती है। इतने मे ही सिद्धार्थक द्वारा बचाकर लाया हुआ शकटदास उसके साथ राक्षस के समीप उपस्थित होता है। राक्षस प्रसन्न होकर सिद्धार्थक को अपने आभूषण पुरस्कारस्वरूप प्रदान करता है, जिन्हे मुद्राङ्कित करके सिद्धार्थक वही रखने की प्रार्थना करता है और स्वयं राक्षस की सेवा मे रहने की अभिलाषा व्यक्त करता है। राक्षस इसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है। सिद्धार्थक राक्षस की उसी मुद्रिका को भी दे देता है और राक्षस उसे शकटदास को सौप देता है। यहाँ चाणक्य की एक चाल फलवती होती प्रतीत होती है। राक्षस अपनी समस्त चालो को विफल होते देखकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य मे विभेद उत्पन्न करने के निमित्त दो प्रशस्तिगायको को पाटलिपुत्र भेज देता है। यह उसकी अन्य चाल है। उसी समय कुछ आभूषण-विक्रेता, जो चाणक्य द्वारा पर्वतेश्वर के आभूषण बेचने के लिए नियुक्त थे, आते है और राक्षस उन आभूषणो को क्रय कर लेता है। चाणक्य का दूसरा नीति अस्त्र लक्ष्य मे विद्ध हो जाता है और अंक समाप्त होता है।

तृतीय अङ्क मे चाणक्य की दूरदर्शिता एवं उसके बुद्धि-कौशल का प्रदर्शन किया गया है। राक्षस चन्द्रगुप्त और चाणक्य के जिस विरोध की आयोजना करता है, सम्भवतः उसको अपनी विवेक शक्ति से जानकर चाणक्य पहले ही कृत्रिमता प्रदान कर देता है, जिसे राक्षस अपनी सफलता समझता है किन्तु वास्तव मे वह चाणक्य की सफलता

का एक सोपान है। चाणक्य चन्द्रगुप्त को पहले ही आदेशित कर चुका है कि वह उससे कृत्रिम कलह कर ले। इसी की भूमिकास्वरूप वह कौमुदी महोत्सव बन्द करा देता है। उसे भय है कि कौमुदी महोत्सव मे प्रमत्त जनता पर राक्षस और मलयकेतु का आकस्मिक आक्रमण न हो जाय। चन्द्रगुप्त कौमुदी महोत्सव के न होने से रुष्टता का अभिनय करके चाणक्य को बुलाता है। दोनो के वार्तालाप मे यद्यपि चाणक्य की नीति स्पष्ट हो जाती है तथापि चन्द्रगुप्त उसे कुछ महत्त्व न देकर राक्षस की प्रशंसा करता है और समस्त घटना को भाग्य का चक्र बताता है। इसी समय राक्षस द्वारा प्रेषित प्रशस्ति-गायक चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करते है। चाणक्य इसे समझता हुआ भी रोष का ऐसा वास्तविक अभिनय करता है कि चन्द्रगुप्त भी भयभीत होकर कहने लगता है "अये, तत् कथं सत्यमेव कुपितः आर्यः?" क्रोधाविष्ट चाणक्य मन्त्रिपद के सूचक शस्त्र को फेंक-कर चला जाता है। चन्द्रगुप्त भी शासन-भार को स्वयं सँभालने की घोषणा कर देता है। सभी यही समझने भी लगते है। इस प्रकार चाणक्य की इस कूटनीति-कुशलता के साथ अङ्क समाप्त होता है।

चतुर्थ अङ्क मे चाणक्य की पूर्व निर्धारित योजना फलवती होती दृष्टिगत होती है। भागुरायण मलयकेतु के हृदय मे राक्षस के विरुद्ध भावना जगाने का प्रयत्न करता है। वह उसे समझाता है कि राक्षस का वास्तविक शत्रु चाणक्य है, चन्द्रगुप्त नही। राक्षस तो चाहता है कि किसी प्रकार चन्द्रगुप्त चाणक्य को निष्कासित कर दे तो वह उससे मिल जाय। इसी समय करभक पाटलिपुत्र से आकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विरोध का समाचार देता है। इस पर राक्षस प्रसन्न होकर कह उठता है—"सखे शकटदास, हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति" जिसका अर्थ भागुरायण मलयकेतु को यही बताता है कि अब चन्द्रगुप्त राक्षस को प्राप्त हो गया और उसका अभीष्ट—चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व—सिद्ध हो गया। मलयकेतु के हृदय मे राक्षस के प्रति विरोध भावना का अंकुर जम जाता है। इसके बाद राक्षस और मलयकेतु पाटलिपुत्र पर आक्रमण की योजना बनाते हैं और जीवसिद्धि क्षपणक से राक्षस प्रस्थान का मुहूर्त पूछते है।

पञ्चम अङ्क मे मुद्रा-राक्षस का कथानक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है जिसे संस्कृत-नाट्यशास्त्र के अनुसार प्राप्त्याशा कहा जाता है। प्रवेशक मे जीवसिद्धि क्षपणक पाटलिपुत्र जाना चाहता है और सिद्धार्थक भी प्रथम अङ्क मे निर्देषित लेख और राक्षस की मुद्रा से अङ्कित आभूषणो की पेटी लेकर पाटलिपुत्र जाने की चेष्टा करता प्रतीत होता है। क्षपणक उसे भागुरायण से मुद्रा प्राप्त करने की सम्मति देता है, पर वह नही मानता। इसके अनन्तर क्षपणक भागुरायण के पास मुद्रा लेने जाता है और उसे बताता है कि राक्षस ने उसी के द्वारा विषकन्या से पर्वतेश्वर को मरवाया। अब वह अन्य नीच कार्य कराना चाहता है, जिनके भय से वह जा रहा है। क्षपणक की बात मलयकेतु छिपकर सुन लेता है और उसकी राक्षस-विरोधिनी भावना वृद्रि पाने लगती है। इसी समय सिद्धार्थक मुद्रा बिना जाने की चेष्टा करते हुए पकड़ लिया जाता है और उससे लेख हस्तगत कर लिया जाता है। उससे उस रहस्यमय लेख के सम्बन्ध मे पूछताछ की जाती है। मार खाने पर वह बताता है कि यह राक्षस का लेख है और चन्द्रगुप्त के पास भेजा जा रहा है। मार पड़ते समय उसके पास से राक्षस की मुद्रा से अंकित पुरस्कार स्वरूप प्राप्त की हुई आभूषणो की पेटी भी मिलती है जिससे राक्षस द्वारा प्रेषित करने की पुष्टि हो जाती है। जब उससे लेख मे अंकित मौखिक सन्देश पूछा जाता है तो वह उन नरेशो की अभिलाषा पूर्ति की बात कहता है जो वास्तव मे चन्द्रगुप्त के शत्रु है, किन्तु सन्देशवाहक उन्हे मलयकेतु के शत्रु बताता है। जिससे मलयकेतु के हृदय मे राक्षस के प्रति विद्वेष तो दृढ हो ही जाता है, साथ ही उन पॉच नरेशो के प्रति भी वह शत्रुता के भाव से भर जाता है। तुरन्त ही राक्षस को बुलाया जाता है। सिद्धार्थक राक्षस के समक्ष भी यही स्वीकार करता है कि यह पत्र उन्हीं के द्वारा चन्द्रगुप्त के पास भेजा जा रहा है तथा उस लेख को शकटदास का लिखा हुआ बताता है। मलयकेतु भागुरायण के परामर्श से शकटदास के अन्य लेख से उसका मिलान करता है। समानता पाकर राक्षस भी मूक हो जाता है। इसके साथ ही राक्षस पर्वतेश्वर का आभूषण, जो उसने आभूषण-विक्रेताओं

से क्रय किया था, पहने हुए पाया जाता है। इससे राक्षस और चन्द्रगुप्त की कूट-मन्त्रणा प्रमाणित हो जाती है। मलयकेतु क्रुद्धित होकर राक्षस को निर्वासित कर देता है और अन्य पाँचो नरेशो को भी मारने की आज्ञा प्रदान करता है। चाणक्य की कूटनीति से मलयकेतु और राक्षस का विरोध हो जाता है और सफलता उसके चरण चूमने के लिए अग्रसर होती है।

षष्ठ अंक के प्रवेशक से ज्ञात होता है कि पाँचो राजाओ के मारे जाने पर अन्य नरेश आतंकित होकर मलयकेतु को छोड़कर भाग गये। अवसर पाकर भागुरायण इत्यादि ने मलयकेतु को बन्दी बना लिया तथा चाणक्य ने उसकी सेना पर भी अधिकार कर लिया। उधर राक्षस अपने मित्र चन्दनदास का समाचार ज्ञात करने के लिए पाटलिपुत्र आ गये और चन्दनदास का वध करने के लिए उसे वध्य-स्थान पर ले जाया गया। इसके बाद राक्षस पाटलिपुत्र के एक जीर्णोद्यान मे व्यथित एवं चिन्तित अवस्था मे दृष्टिगत होते है। उसी समय चाणक्य द्वारा प्रेषित एक व्यक्ति स्वय आत्महत्या की चेष्टा करता है। राक्षस द्वारा ज्ञात करने पर वह बताता है कि वह उसका मित्र सेठ जिष्णुदास अपने मित्र चन्दनदास का मृत्यु समाचार सुनने से पूर्व ही अग्नि-प्रवेश को गया है और वह उसके अग्नि प्रवेश का समाचार न सुने, इसलिए आत्महत्या कर रहा है। यह जानकर राक्षस तलवार से चन्दनदास को मुक्त करने की बात कहता है। पर वह पुरुष बताता है कि इससे तो चन्दनदास और भी शीघ्र मारा जायगा। तब राक्षस उसे अपना परिचय देकर स्वयं उपस्थित होकर उसे बचाने के लिए जाता है और उस व्यक्ति से कह जाता है कि वह अपने मित्र जिष्णुदास को अग्नि-प्रवेश से रोके।

सप्तम अंक मे चाणक्य का नीति-जाल अपनी परिधि मे समा जाता है और उसकी अभीष्ट सिद्धि होती है। चन्दनदास वध्य-स्थान पर दो चाण्डालो द्वारा लाया जाता है, जहाँ उसकी स्त्री और पुत्र विलाप करते हैं। उसी समय राक्षस उपस्थित हो जाता है। एक चाण्डाल इसकी

सूचना चाणक्य को देता है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त मंच पर आकर चन्दनदास को मुक्त करते हुए राक्षस का अभिवादन और अभिनन्दन करते है। वे उसकी प्रशंसा करते है। चाणक्य अपने समस्त नीति-जाल का उद्घाटन करते हुए उसे चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करने के लिए विवश करता है। राक्षस मन्त्रीपद का उत्तरदायित्व सँभाल लेते है। उनके आदेश से मलयकेतु को मुक्त करके उसका राज्य उसे दे दिया जाता है और राक्षस के द्वारा उच्चरित भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

हम देखते है कि इस नाटक की वस्तु-योजना एवं उसके संगठन में विशाखदत्त ने प्राचीन नियमो को झकझोर डाला है। आदि से अन्त तक नाटक का वातावरण गम्भीर बना रहता है। कही भी प्रेम की सरसता अथवा हास्यजनित उल्लास की योजना नही की गई। इसी से न तो स्त्री पात्र को स्थान दिया गया और न विदूषक को। केवल एक स्त्री पात्र है--चन्दनदास की पत्नी। किन्तु कथानक के विकास मे उसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही। सस्कृत के नाटको मे मुद्रा-राक्षस ही एकमात्र घटना-प्रधान नाटक है। जिसमे नाटककार ने रस-परिपाक की अपेक्षा नाटकीयता पर अधिक बल दिया और नाटक के अभिनेय होने के गुण की सर्वत्र रक्षा की है। प्रत्येक अंक राजनीनि की कूट मन्त्रणाओ का आगार है। चाणक्य की राजनीति इतनी विकासशीला है कि समस्त घटनाएँ एक दूसरी से शृंखलाबद्ध होती हुई एक निश्चित तारतम्य के साथ उसी मे समावेशित हो जाती है। कथानक मे जटिलता होते हुए भी गठन की चारुता और सम्बन्ध निर्वाह की अपूर्व कुशलता लक्षित होती है। नाटककार के लिए इतिवृत्त का निर्वाह एक राजनीतिज्ञ के समान कितना जटिल और श्रमसाध्य होता है, इसको विशाखदत्त भली भाँति जानते हैं। उन्होने मुद्रा-राक्षस मे एक स्थान पर राक्षस के मुख से यह कहलाया है :—

"कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।

कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि, पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा" ।।४-३।।

नाटककार सर्वप्रथम अपने छोटे से कार्य का बीजरूप में उपक्षेप करता है (मुख सन्धि) तत्पश्चात् प्रतिमुख सन्धि मे उसका विस्तार करता है, पुन. गर्भ सन्धि मे कथावस्तु के बीजो मे अन्तर्निहित गम्भीर फल का उद्घाटन करता है, तदनन्तर विमर्श सन्धि मे अपनी बुद्धि से उसे विश्लेषित करके निर्वहण सन्धि मे उसे समेटकर उसका उपसंहार करता है। विशाखदत्त ने वास्तव मे इतिवृत्त की योजना मे अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अत्यन्त कौशल के साथ किया है। प्रेक्षक इस नाटक को देखते समय रसाप्लुत चाहे न हो किन्तु वह घटनाओ के प्रवाह मे अपने को खो सा देता है और अन्त तक उसकी उत्सुकता बनी रहती है। इस नाटक मे जो द्वन्द्व चलता है, वह शस्त्रो का द्वन्द्व नही है, दो बुद्धियो का द्वन्द्व है। इसलिए युद्ध जैसी भीषणता नही है, अपितु चाणक्य और राक्षस के उन नीतिजालो का विस्तार है जो एक दूसरे को आबद्ध करने के लिए फैलाये गये है। प्रेक्षक देखता है कि किस प्रकार चाणक्य के बुद्धि-कौशल से राक्षस स्वयं अपने ही जाल मे आबद्ध हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस नाटक के कथानक मे गम्भीरता होते हुए भी जैसी गत्यात्मकता, प्रवाहमयता, क्रमबद्धता, गठन की सुव्यवस्था, घटनाओ के गुम्फन की चारुता, नाटकीय औचित्य की भव्यता और कलात्मकता है, वैसी संस्कृत के नाटको मे कम उपलब्ध होती है।

मुद्रा-राक्षस के कथा-विभाजन में भी संस्कृत के अन्य नाटको की अपेक्षा मौलिकता है। कालिदास आदि के नाटको मे अंको का ही विभाजन है। लेकिन विशाखदत्त ने अंको के मध्य दृश्यो की भी योजना की है। यथा द्वितीय अक मे दो दृश्य है—एक मार्ग का जहाँ जीर्ण विष सँपेरा साँप दिखाता फिर रहा है और दूसरा राक्षस के घर का। इसी प्रकार तृतीय अंक मे पहला दृश्य सुगागप्रासाद का, दूसरा चाणक्य की कुटी का और तीसरा फिर सुगागप्रासाद का ही है। इसके साथ ही भावी

घटनाओं की सूचना देने के निमित्त विशाखदत्त ने भवभूति एवं भट्ट-नारायण की भाँति पताकास्थानक या गंड (Drama ic Irony) का भी प्रयोग किया है। चतुर्थ जब राक्षस कहता है—"तदपि नाम दुरात्मा चाणक्य बटुः " तभी दौवारिक आकर कहता है—"जयतु, जयतु (जेदु जेदु—)"।

"राक्षस—अतिसन्धातु शक्यः स्यात्—
दौवारिक—'अमात्यः (अमच्चो)"
'राक्षस—और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य ...
दौवारिक—(आकर) जय हो, जय हो।
राक्षस—वश मे आ जाता
'दौवारिक—अमात्य—'

इसमे प्रेक्षक ही नही अपितु स्वयं राक्षस भी 'चाणक्य बटु" का अन्वय 'जयतु' के साथ और 'अमात्यः' का अन्वय 'अतिसन्धातु शक्यः स्यात्' के साथ कर लेता है और इससे चाणक्य की विजय और राक्षस के वश मे आने की सूचना मिल जाती है। बाद मे पता चलता है कि राक्षस चाणक्य को वश मे करने की बात कह रहा है।

इस प्रकार मद्रा-राक्षस का कथा-विधान अत्यन्त नाटकीय और सुगठित एवं सुष्ठु है।

पात्र-परिचय—'मुद्रा-राक्षस' के नायकत्व का प्रश्न भी विवादास्पद है। भारतीय नाट्य-परम्परा के अनुकूल तो चन्द्रगुप्त ही इस नाटक का नायक प्रतीत होता है, क्योकि उसी को निष्कण्टक साम्राज्य और राक्षस जैसे मन्त्री की प्राप्ति होती है। वह राजकुलोत्पन्न क्षत्रिय भी है किन्तु सद्वंशसंभूत होने मे शंका को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इतना होने पर भी वह नायकत्व के योग्य व्यक्तित्व को प्राप्त नहीं करता। वह कहीं भी नाटक मे गतिशील दृष्टिगत नहीं होता। उसकी शक्ति चाणक्य मे निहित है और चाणक्य की मन्त्र-शक्ति के बल पर वह सिंहासन पर अधिष्ठित है। कवि को उसे नायक बनाना अभीष्ट नही था, तभी तो उसके

व्यक्तित्व को उसने उभरने नही दिया है। यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त चाणक्य के कृत्रिम क्रोध को देखकर ही कॉप जाता है। अत चन्द्रगुप्त नायक नही हो सकता। संस्कृत नाटको मे भरतवाक्य का पाठ प्रायः नायक के द्वारा ही कराया जाता है। किन्तु इस नाटक मे भरतवाक्य का उच्चारण राक्षस करता है और राक्षस को मन्त्रित्व की प्राप्ति भी हुई है। इतने पर भी उसे नायक नही माना जा सकता। क्योकि वह चाणक्य द्वारा पराभूत दिखाया गया है।

वास्तव मे विशाखदत्त ने नायक सम्बन्धिनी प्राचीन परिपाटी की भी अवहेलना की है। उसने अपने नाटक के लिए ऐसा नायक चुना है जो प्रख्यात सद्वंशसंभूत राजा न होकर एक ऐसा ब्राह्मण है जो भारत के विशाल साम्राज्य का प्रतिष्ठापक और भारत के प्रथम सम्राट् का निर्माता है। चाणक्य की गतिविधि ही आरम्भ से अंत तक परिचालित दृष्टिगत होती है और उसकी नीतिलता ही लहलहाकर पुष्पित होकर फल को जन्म देती है। समस्त कथानक चाणक्य मे ही केन्द्रित है। इस नाटक का मुख्य कार्य राक्षस को अपनी ओर मिलाना है (अगृहीते राक्षसे किमुत वा तं नन्दवंशस्य ?) और उसके लिए चाणक्य को ही हम प्रयत्नशील पाते है और उसका फल भी निस्पृह चाणक्य को ही मिलता है और वह फल है अपने अभीष्ट की सिद्धि से जनित आत्म-संतोष, जो चन्द्रगुप्त को राज्य प्राप्त होने और राक्षस को अमात्य पद पाने से कही अधिक श्रेयस्कर है। अतएव चाणक्य ही इस नाटक का नायक है।

विशाखदत्त ने चाणक्य का चरित्राङ्कन इस विशिष्टता के साथ किया है कि नाट्याचार्यो द्वारा निर्धारित नायक चतुष्टय मे उसे स्थान देने मे आलोचक को कठिनाई होती है। क्योकि उसकी निस्पृहता, त्यागमयता, धीरता, आत्मविश्वास की भावना एवं पौरुष विश्वस्तता उसे यदि धीरोदात्त नायक की कोटि मे स्थान दिलाती है तो विकत्थनता, कठोरता एवं षड्यन्त्रमयी नीतिमत्ता उसे धीरोद्धत नायक कहने को बाध्य करती है। वास्तव में नायको की चारों कोटियों मे से किसी एक की संकुचित

परिधि मे समाहित न होते हुए भी उसका व्यक्तित्व अपनी विशिष्टता और सरलता के कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। उसकी शक्तिमत्ता शस्त्रो मे केन्द्रित न होते हुए भी सम्भवतः सस्कृत नाटको के प्रायः सभी नायको से अधिक परिणाममयी है।

चाणक्य की इस शक्तिमत्ता का कारण है उसकी आत्मिक सबलता और आत्मिक सबलता उसे प्राप्त हुई है अपनी निस्पृहता से, अपनी निस्वार्थता से, अपनी वीतरागता से और लोकसग्रह की भावना से। वह भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त का विधायक, मन्त्री, गुरु एवं पथ-प्रदर्शक सभी कुछ है। विशाल साम्राज्य का प्रतिष्ठापक एव महान् नरेश का भाग्य-विधाता होते हुए भी वह अपने वैयक्तिक सुखो के प्रति सर्वथा उदासीन है। उसका कृतित्व अपने लिए नही है, सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए है, विशाल साम्राज्य के लिए है और जनहित के लिए है। इसी कारण महा-मन्त्री चाणक्य की अपनी विभूति कुछ नही है। उसकी महानता का परि-चय हमे कञ्चुकी द्वारा वर्णित उसकी इस 'गृहभूति' से मिलता है :—

'उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिश्शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्" ॥३-१५॥

'एक ओर कण्डो को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर शिष्यो द्वारा लाई हुई कुशा का ढेर लगा है, सुखाने के लिए रखी हुई समिधाओ से छप्पर झुका जा रहा है और दीवारे जीर्ण शीर्ण हो गई है।' इतना महान् पद और ऐसा दरिद्रतामय वातावरण। कैसा उत्तम आदर्श है, यह किसी भी राष्ट्र के सूत्रधार के निमित्त।

चाणक्य मे जो विकत्थनता है, वह उसके चरित्र का दूषण नही, भूषण है। क्योकि उसमे सत्यता है और उसमे उसका दृढ आत्मविश्वास निहित है। चाणक्य को अपने पुरुषार्थ का अभिमान है और उसका यह अभिमान, उसकी यह 'अहं' भावना अहंकार की कोटि मे नहीं आती,

अपितु स्वाभिमान की कोटि मे आयेगी। क्योकि उसकी सफलताये उस स्वाभिमान की जननी एवं पोषिकाये है। उसने जो कुछ किया है वह अपने पुरुषार्थ के बल पर किया है इसीलिए वह नियतिवाद मे विश्वास नही करता। सक्रियता एवं कर्मण्यता उसके जीवन का आधार है और दैव, नियति या भाग्य को अभिशाप मानता है। 'दैव' का नाम सुनते ही उसका रोष विस्फोट कर उठता है। जिस समय चन्द्रगुप्त कहता है कि नदवंश का विनाश दैव ने किया—"नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन" तो चाणक्य का रोष उमड़ पड़ता है और वह उसे फटकारता हुआ उत्तर देता है—"दैवमविद्वास प्रमाणयन्ति"—मूर्ख व्यक्ति ही दैव का विश्वास करते है।

उसके पुरुषार्थ की सफलता ने ही उसमे आत्मविश्वास को जागरूक कर दिया है। आत्मविश्वास से ही प्रेरित होकर वह आत्मश्लाघा करने लगता है, किसी भी कार्य को निस्संकोच भाव से करने के लिए तत्पर हो जाता है और सफलता उसे अपने चरण चूमते हुए दृष्टिगत होती है। अपने अटल आत्मविश्वास के कारण वह किसी की भी चिन्ता नही करता। अपनी बुद्धि के बल से वह कितनी ही शक्तिमनी सेनाओ का सामना करने मे भी समर्थ है, जिसकी उदघोषणा वह इन शब्दो मे करता है :—

"एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम" ॥१।२६

और हम देखते है कि वह अपने बुद्धि-वैभव से मलयकेतु की सेनाओ को व्यर्थ सिद्ध करके सफलता का वरण करता है। उसकी राजनीति उसके बुद्धि-कौशल का ही निदर्शन तो है। जिसको हर व्यक्ति समझ भी नही पाता। उसकी बुद्धि मे प्रत्युत्पन्नता के साथ दूरदर्शिता भी है। राक्षस जैसा नीतिज्ञ भी उसे नही समझ पाता और वह अपनी दूरदर्शिता और मनोवैज्ञानिक पटुता के कारण राक्षस की प्रत्येक गतिविधि को समझ लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राक्षस अपने को उतना नही

जानता जितना उसे वह जानता है। राक्षस जिसे अपनी योजना समझता है, उसे वह पहले से ही अपनी बना लेता है, यही है उसका बुद्धि-कौशल, जिसकी रहस्यमयता को कोई नही समझ पाता। उसी का सहयोगी भागुरायण उसकी नीति के सम्बन्ध मे कहता है :—

"मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना,
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले—
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविद्" ॥५-३॥

'कभी तो चाणक्य की गूढ चाले प्रकाशित होने लगती है और कभी इतनी गहन हो जाती है कि बुद्धिगम्य नही हो पाती, कभी अपने सम्पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है, कभी किसी कार्य-विशेष से अत्यन्त धुँधली हो जाती है, कभी उनका बीज तक नष्ट होता प्रतीत होता है और कभी विविध फलो से युक्त हो जाती है। वास्तव मे चाणक्य की नीति नियति की भाँति विचित्र आकार प्रदर्शित करती है।'

चाणक्य के चरित्र मे एक कोमल कठोरता है। तभी तो वह अपने प्रतिद्वन्द्वी राक्षस के प्रति रोष प्रदर्शित करते हुए भी उसकी प्राणरक्षा का ध्यान रखता है। वह अपनी कठोर नीति से केवल राक्षस को वश मे करना चाहता है, उसका विनाश नही। इसका परिचय हमे भागुरायण की उस स्वगतोक्ति से मिलता है जो उसने मलयकेतु को राक्षस के विपरीत भड़काने के बाद की है—" 'रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा' इत्यार्यदिशः" —राक्षस के प्राण रक्षणीय है, यही आर्य चाणक्य) का आदेश है। उसकी कठोरता मे कोमलता की निहिति का आभास और उसकी आत्मनिरीक्षण की गुरुता का परिचय हमे अपने शिष्य के प्रति कही गई इस उक्ति से भी मिलता है—"वत्स! कार्याभिनियोग एवाऽस्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता"—'वत्स, मेरा शिष्यो के प्रति रुक्ष व्यवहार स्वभावगत नहीं है, अपितु कार्य मे व्यग्र होने के कारण मै व्याकुल रहता हूँ।' चाणक्य की यह कठोरता जब रोष का रूप

धारण करती है तो वह कृत्रिम होते हुए भी आतंकित करनेवाली होती है। चन्द्रगुप्त की उसके आत्मविश्वास पर व्यंग्यात्मक चोट करनेवाली इस उक्ति को—"विद्वांसोऽप्यविकत्थनाः भवन्ति"—सुनकर उसका क्रोध इतना भयंकर हो जाता है कि उसकी कृत्रिमता को जानते हुए भी चन्द्रगुप्त भयभीत हो उठता है और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि—

"संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि,
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमि पुनः पिङ्गया नेत्रभासा।
मन्ये, रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
सञ्जातोदग्रकम्प कथमपि धरया धारितः पादघात" ॥३ ३०॥

'एक ओर जहाँ क्रोधावेश से कम्पायमान पलकों से निकलती हुई जल की बूँदों से धुले और समस्त भावों से शून्य ये पिंगल वर्ण नेत्र भ्रूभंग रूपी धूम राशि के साथ प्रज्वलित दृष्टिगत होते हैं, वहाँ दूसरी ओर भयंकर हलचल के साथ यह पृथ्वी भी ताण्डवनृत्य के समय रौद्र रस का अभिनय करनेवाले रुद्र के पाद-विक्षेप का स्मरण करती हुई किसी प्रकार इन पैरों के प्रहार को सहती सी प्रतीत होती है।'

चाणक्य की सबसे अधिक महानता अपने प्रतिद्वन्द्वी के गुणों के प्रति अनुरक्त होने में है। स्पष्ट रूप से वह राक्षस को अपने से अधिक असमर्थ और हीन घोषित करता है, किन्तु उसके हृदय में उसकी बुद्धि उसके पराक्रम और उसकी राज्यभक्ति के प्रति महान् आस्था है। उसके इन्हीं गुणों से अभिभूत होकर ही तो वह उसे अपने वश में करके चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाना चाहता है। वह जानता है कि राक्षस की मेधा और चन्द्रगुप्त की शक्ति का समन्वय ही जनकल्याण कर सकता है। इसी समन्वय के निमित्त वह सक्रिय दिखाई देता है और अपने लक्ष्य को सिद्ध करने के अनन्तर सब कुछ त्याग देता है। इतनी महानता है उसके चरित्र में। वास्तव में विशाखदत्त ने उसे न केवल एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किया है, अपितु उसे एक महामानव भी बना दिया है।

इस नाटक का दूसरा प्रभावशाली व्यक्तित्व राक्षस है। वह चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी है। यद्यपि वह चाणक्य द्वारा पराभूत हो जाता है तथापि अपनी महानता की छाप प्रेक्षक के हृदय पर छोड़ जाता है। राक्षस भी चाणक्य के समान ही राजनीतिज्ञ है और उसकी राजनीति नन्दवंश के प्रतिकार के निमित्त प्रयुक्त होती है। वह भी जो कुछ करता है, अपने लिए नही करता अपितु स्वामिभक्ति की भावना से प्रेरित होकर करता है। नन्द के युग मे उसकी कितनी सत्ता थी और उसमे कितनी राज्य-संचालन शक्ति थी, इसका परिचय तो हमे उसकी मुद्रा से लगता है जो उसकी शक्ति का केन्द्र है और उसकी कूटनीति या राजनीति की महत्ता इसी मे है कि वह चाणक्य की कूटनीति की प्रतिद्वन्द्विनी है। राक्षस ने चन्द्रगुप्त के विनाश के निमित्त गृह प्रवेश के अवसर पर जो योजना बनाई थी, उसकी कुशलता मे और उसके निर्माणकर्ता के बुद्धि-वैभव मे किसी को सन्देह नहीं हो सकता। उसकी असफलता का दोषी राक्षस नही, उसके व्यक्तियो की असावधानी और आतुरता है। राक्षस की पराजय मे चाणक्य की चालो का हाथ तो है ही, किन्तु वह वहुत कुछ आकस्मिक एवं परिस्थितिजन्य भी है। चाणक्य के हाथ मे राक्षस की मुद्रा आकस्मिक एवं अप्रत्याशित रूप से ही तो आती है और चाणक्य उस मुद्रा मे निहित राक्षस की शक्ति को जानता है और उसे राक्षस को वशवर्ती बनाने के काम मे लाता है।

परिस्थितियो की विपरीतता और अपनी योजनाओ की असफलता राक्षस को भाग्यवादी बना देती है। चाणक्य का पौरुष मे विश्वास है तो राक्षस का भाग्य मे, दैवगति मे और उसका कारण उसकी विफलता ही है। विराधगुप्त के मुख से अपने दो गुप्तचरो के मारे जाने का समाचार सुनकर वह कहता है—"नैतावुभौ हतौ, दैवेन वयमेव हताः"—ये दोनो नही मारे गये, भाग्य ने हमे ही मार दिया (द्वितीय अंक और जब मलय-केतु भागुरायण के प्रयत्न से राक्षस के विपरीत कर दिया जाता है और वह उसे राक्षस की मुद्रा से अंकित सिद्धार्थक से प्राप्त आभूषणो की पेटी

दिखाता है तो वह उसे भाग्य-विपर्यय ही कहता है। उस समय नन्द-वंश के विनाश और अपनी असफलता मे उसे विधि की विडम्बना और भाग्य के चक्र का ही विश्वास होता है। वह कहता है —"विधेर्विलसित-मिदं, कुतः ?"

"भृत्यत्वे परिभावधामनि सति स्नेहात् प्रभूणां सतां
पुत्रेभ्यः कृतवेदिनां कृतधियां येषामभिन्ना वयम्।
ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः पापेन येन क्षताः
तस्येदं विपुलं विधेर्विलसितं पुंसां प्रयत्नच्छिदः" ॥५२०॥

'यह तो उस भाग्य का चक्र है जो मनुष्य के पुरुषार्थ का शत्रु है। तभी तो वे न्यायपरायण राजागण मारे गये, जिन प्रभुत्वशालियो के लिए, जिन परोपकारियो के लिए और जिन सदसद्विवेकशालियो के लिए सेवक होने से अपमानास्पद होने पर भी केवल स्नेह के कारण हम पुत्र के समान ही रहते आये।' राक्षस के इस कथन से उसकी भाग्यवादिता तो स्पष्ट होती ही है, साथ ही उसकी नन्दवंश के प्रति भक्ति भावना का भी आभास मिलता है। भाग्यवादी होने पर भी राक्षस अकर्मण्य नही है। अपने निरन्तर प्रयत्नो की असफलता से वह भाग्य को कोसता अवश्य है और निराशा की भावना से भी भर जाता है तथापि उसके पुरुषार्थ मे शिथिलता नही आती, उसके प्रयत्नो की गति शिथिल नहीं पड़ती। आत्मसमर्पण के समय तक वह क्रियाशील दिखाई देता है।

राजनीति पटु होने पर भी उसमे राजनैतिक व्यक्ति जैसी कठोरता नही है। वह सहृदय है और कोमल भावनायें उसके हृदय मे उत्पन्न होती रहती है। वह अपने हृदय का ही प्रतिबिम्ब सब मे देखता है, इसीलिए अपने प्रति भक्ति और स्नेह प्रदर्शित करनेवाले के प्रति सहज ही विश्वास हो जाता है। जीवसिद्धि क्षपणक के प्रति वह अपना स्नेह प्रदर्शित करता है और सिद्धार्थक को अपना मित्र एवं स्नेही बना लेता है। उसका यह सहज विश्वास अथवा उसकी यह उन्मुक्त हृदयता ही तो उसे असफलता

के गर्त मे गिरा देती है। राजनैतिक के लिए चाहे इतनी सहृदयता वाछनीय न हो, किन्तु मानव के लिए तो स्पृहणीय है ही, इसमे सन्देह नही।

राक्षस मे राजनैतिक पटुता से भी अधिक शक्ति है, युद्ध-संचालन की क्षमता है और सैन्य-संगठन की निपुणता है। वह स्वयं भी वीर है और युद्धकला मे दक्ष है। जीर्णोद्यान मे चन्दनदास के वध्य-स्थल पर जाने का समाचार सुनकर वह उसे अपनी असि के बल से मुक्त करने के हेतु प्रस्तुत होता है। राक्षस की शक्ति और उसके युद्धकौशल से चाणक्य तक आतंकित रहता है और इसी कारण वह शस्त्रयुद्ध को न अपनाकर मंत्र-युद्ध को अपनाता है। वैसे उसके आतंक से चन्द्रगुप्त की सेना की क्या दशा है, उसका वर्णन चाणक्य ने इस प्रकार किया है :—

"अश्वै. सार्द्धमजस्रदत्तकविकाक्षामैरशून्यासनै
स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वजितान्।
माहात्म्यादतिपौरुषस्य भवतो दृप्तारिदर्पच्छिद
पश्यैतान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् गजान्" ॥७-१५॥

'अपने दुर्दान्त शत्रुओ के अभिमान को चूर्ण करनेवाले महान् पराक्रमी आप जैसे महापुरुष का ही तो यह कार्य रहा कि हमारी अश्वसेनाओ के इन सन्नद्ध, इन निरन्तर लगी हुई लगामो के कारण सूखकर काँटे बने हुए घोड़ो के साथ हमारी गजसेनाओ के सदा हौदा कसे हुए फूली हड्डी की पीठ लिये हुए बडे-बडे गजराज इस प्रकार नहाने धोने, खाने-पीने, बैठने-सोने के सभी सुखो से वंचित होकर सदा सन्नद्ध खडे रहे।'

एक योग्य मन्त्री के निमित्त जिन गुणो की आवश्यकता होती है, वे सभी राक्षस मे विद्यमान है। युद्धकला मे निपुणता, शक्तिमत्ता, सैन्य-संगठन और संचालन का ज्ञान, राज्य-व्यवस्था की पटुता के साथ स्वामिभक्ति की भावना राक्षस के चरित्र की विशेषता है। नंदवंश के नाश के बाद भी उसकी उसके प्रति भक्ति बनी रहती है। तभी तो चाणक्य उस पर मुग्ध है और वह उसके सबल व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कहता

है —"अतएवास्माकं त्वत्संग्रहे यत्नः कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति । कुतः—

"अप्रज्ञानेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम् ।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च" ॥१-१५॥

'इसी कारण तो तुम्हे प्राप्त करने के लिए मेरा यह प्रयत्न है कि तुम अनुग्रहपूर्वक चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर लो । क्योकि उस स्वामि-भक्त राजसेवक से क्या जिसमे न बुद्धि हो और न बल और उस बुद्धि तथा बल से ही क्या जो भक्ति से रहित हो । किन्तु जिसमे बुद्धि, बल और भक्ति तीनो गुण होते है, राजा के कल्याण के लिए ऐसे ही राज-सेवको की आवश्यकता होती है । वैसे तो अन्य लोग भी राजसेवक कह-लाते है, जिनका अच्छे और बुरे दिनो मे राजा को अपने स्त्री और बच्चो के समान भरण-पोषण करना पडता है ।' राक्षस इन गुणो का भडार है ।

राक्षस की महत्ता उसकी सच्ची मैत्री के विकास मे प्रस्फुटित होती है । जब वह अपने मित्र चन्दनदास के प्राणो पर सङ्कट आया हुआ देखता है, तो उसकी मुक्ति के हेतु अपने को ही समर्पित कर देता है । वास्तव मे उसका आत्म-समर्पण उसकी असफलता और चाणक्य की विजय का उतना उद्घोषण नही करता जितना उसकी महत्ता एव मैत्री को अमरता प्रदान करता है । चाणक्य के यह कहने पर—"अमात्य राक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?" ही वह चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करता है और उस कर्तव्य को सत्यता से निर्वाह करने के प्रति चाणक्य पूर्ण विश्वस्त भी है, जब कि वह कभी किसी का विश्वास नही करता । वास्तव मे विशाखदत्त ने राक्षस को असफल सिद्ध करते हुए भी उसकी महानता को अक्षुण्ण रखा है । यही है उसकी कला का कौशल ।

मुद्रा-राक्षस का तीसरा प्रमुख पात्र चन्द्रगुप्त है। किन्तु उसका व्यक्तित्व उभर नही पाया है । उसकी समस्त शक्ति चाणक्य मे केन्द्रित

है। लेखक ने सैद्धान्तिक रूप से उसे नायक बनाते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से नायक नही रहने दिया है। यद्यपि उसके नायकोचित गुणो का आभास लेखक ने नही दिया है तथापि उसकी हीनता भी प्रदर्शित नहीं की है। चाणक्य जैसे नीतिज्ञ एवं मेधावी व्यक्ति ने जिसमे सम्राटत्व के गौरव का दर्शन किया और जिसके निमित्त सब कुछ किया, उसमे शक्ति एवं सामर्थ्य की कल्पना तो की ही जा सकती है। कतिपय आलोचक उसे चाणक्य के हाथ की कठपुतली कहते है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। उसका सम्राटत्व मन्त्रित्व का सहयोगी है, विरोधी नही। चाणक्य ने स्वय उसकी महत्ता की प्रशसा इन शब्दो मे की है —

'नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजै-
रध्यासितञ्च वृषलेण वृषेण राज्ञाम्।
सिहासन सदृशपार्थिवसगतञ्च
प्रीतिं परा प्रगुणयन्ति गुणा ममैते" ॥३-१ ॥

'वास्तव मे मुझे तो इसी मे हार्दिक आनन्द मिल रहा है कि यह सिहासन राजधर्म को छोड़ देनेवाले नन्दो से छोडे जाने पर अब हमारे राजश्रेष्ठ वृषल द्वारा सुशोभित किया जा रहा है। उसे अपनी महानता के अनुरूप ही महान् राजा प्राप्त हुआ है।' इससे चन्द्रगुप्त की महानता प्रकट होती है। चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का प्रेमभरा सम्बोधन 'वृषल' भी उसके शूद्रत्व का सूचक नहीं है, अपितु उसकी महत्ता का ही बोधक है। डा० सत्यव्रत सिह ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है[1]—"मुद्रा-राक्षस मे चन्द्रगुप्त के लिए 'वृषल' पद का प्रयोग है। यहाँ 'वृषल' शब्द शूद्र अर्थ का वाचक नही अपितु 'महान्' अर्थ का वाचक और स्नेहसूचक है। 'वृषल' वह है जो कि 'राज्ञावृष' हो, राजराजेश्वर हो और राजाओ मे महान् हो।" यदि ऐसा है तो चाणक्य की इच्छा के समक्ष अपनी इच्छाओ का दमन क्यो? उससे इतना भय क्यो? कौमुदी महोत्सव के बन्द होने पर भी रोष की वास्तविक अभिव्यक्ति क्यो नही? इसके कारण है। एक तो

[1] मुद्रा-राक्षस की समालोचना—चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस पृ० २९

चाणक्य मन्त्री है और चन्द्रगुप्त सचिवायत्त-सिद्धि सम्राट् है। वह जानता है कि चाणक्य की मन्त्रणा जनहितसाधिका है और उसी मे साम्राज्य का भी हित है। इसके अतिरिक्त चाणक्य चन्द्रगुप्त का गुरु भी है और चन्द्रगुप्त गुरुभक्त है। गुरु के प्रति कृत्रिम रोष और अवज्ञा प्रदर्शित करने मे भी चन्द्रगुप्त को भय होता है। चन्द्रगुप्त की यह उक्ति उसकी गुरुभक्ति और निश्चिन्तता को प्रकट करती है :—

"इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरंकुशः।
विनयरुचयस्तस्मात्सन्त' सदैव निरंकुशा
परतरमतः स्वातन्त्रेभ्यो वयं हि पराङ्मुखा" ॥३-६॥

'यदि एक विनीत शिष्य की भाँति मुझसे सब कुछ ठीक होता चला तो मुझे कुछ सुनना नही पडेगा और यदि असावधानीवश मै कहीं मार्ग भूल जाऊँ, तब भी गुरु का नियन्त्रण है। मुझे किस बात की चिन्ता? मुझे तो आर्य के आज्ञापालन मे ही स्वतन्त्रता दृष्टिगत होती है। मेरे लिए तो सभी स्वच्छन्दताओ से ही मुख मोड़ लेना श्रेयस्कर है।' इस प्रकार चन्द्रगुप्त का चरित्र भी विशाखदत्त की लेखनी से एक विशिष्टता लेकर चित्रित हुआ है।

मलयकेतु चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी है, किन्तु उसका चरित्र उससे सर्वथा विपरीत है। चन्द्रगुप्त तो अपने साम्राज्य का संचालन-सूत्र चाणक्य को समर्पित करके निश्चिन्त हो जाता है, किन्तु मलयकेतु राक्षस का विश्वास नही कर पाता। उसे इस बात का असत्य अहंकार है कि वह स्वायत्तसिद्धि राजा है (दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि) और उसका यह अहंकार ही उसके पतन का कारण बना है। क्योकि वह अहंकारी के साथ अविवेकी भी है। उसमे विचारशून्यता और अदूरदर्शिता पाई जाती है। वह विजिगीषु अवश्य है और उसमे साहस एवं पराक्रम का भी अभाव नहीं है। जैसा कि उसके इस कथन से प्रमाणित होता है :—

"उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां
गन्तव्यमाजिनिधनेन पितुः पथा वा
आच्छिद्य वा स्वजननी जनलोचनेभ्यो
नेयो मया रिपुवधूनयनादिवाष्पः" ।।४-६।।

'वीर पुरुषो की भाँति इस महान् कार्यभार को उठाते हुए या तो मुझे अपने मातृजन की आँखो के आँसुओ को शत्रु वनिताओ की आँखों मे बहा देना है या युद्ध-क्षेत्र मे वीरगति पाकर पिताजी का अनुगमन करना है।' किन्तु उद्धतता एव प्रज्ञाहीनता के कारण उसका वह पराक्रम धूल मे मिल जाता है। वह चाणक्य के दूतो—भागुरायण इत्यादि—की बातो मे आकर राक्षस का विरोधी बन जाता है और परिणाम की चिन्ता किये बिना उसे अपने यहाँ से निकाल देता है। जिससे राक्षस को भी उसकी अविवेकता को स्वीकार करना पड़ता है। (अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य)। मलयकेतु की उद्धतता, अशान्त प्रकृति, विवेकहीनता और अदूरदर्शिता का चित्रण करके नाटककार ने चन्द्रगुप्त के गौरव को ही बढाया है।

मुद्रा-राक्षस के अन्य पात्रो मे कुछ चाणक्य के सहायक है और कुछ राक्षस के। दोनो के सहायको मे भी वही अन्तर है जो चाणक्य और राक्षस मे है। चाणक्य के गुप्तचर प्रत्येक कार्य को अपना सा मानकर पूर्ण विश्वस्त के साथ करते है और चाणक्य की अभीष्ट सिद्धि को अपनी अभीष्ट सिद्धि मानते है। यहाँ तक कि राजवंशीय भागुरायण भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अपनी भावनाओ का दमन करके भी चाणक्य की कार्यसिद्धि मे योग देता है। इसके विपरीत राक्षस के गुप्तचर अपनी सफलता के विषय मे विश्वस्त नही है। उनकी स्थिति संदेहास्पद रहती है। इसी से उनके कार्यो मे वह तत्परता दृष्टिगत नही होती। चाणक्य के गुप्तचरो मे जीवसिद्धि क्षपणक, सिद्धार्थक, भागुरायण प्रमुख है। इनका विधान विशाखदत्त ने कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित गुप्तचरो के आधार पर किया है। शार्ङ्गरव शिष्य-व्यंजन के रूप

मे, जीवसिद्धि तापस व्यंजन के रूप मे और सिद्धार्थक कर्मकर-व्यंजन के रूप मे चित्रित हुआ है। राक्षस के सहायको मे विराधगुप्त, शकटदास, करभक और चन्दनदास प्रमुख है। इनमे चन्दनदास का चरित्र अत्यन्त उदात्त और इसी कारण प्रभावशाली है। वह मित्रता के कर्त्तव्य का निर्वाह अपने और अपने कुटुम्ब के प्राणो को भी सकट मे डालकर करता है। उसमे साहस है। चाणक्य की धमकियो से भी नही डरता और उसकी शक्ति को जानते हुए भी स्पष्ट कहता है—"सन्तमपि गेहे अमात्य-राक्षसस्य गृहजन न समर्पयामि, किं पुनरसन्तम्।" हम देखते है कि उसकी सम्पत्ति छीनकर उसके कुटुम्बियो को कारागृह मे डाल दिया जाता है और उसका वध करने के लिए वध्य-स्थान पर ले जाया जाता है, फिर भी वह राक्षस के बाल-बच्चो को नही बताता। वह मित्रता का आदर्श है। उसके मित्र राक्षस ने ही नही अपितु चाणक्य ने भी उसकी प्रशंसा करते हुए कहा है :—

"सुलभेषु अर्थलाभेषु परसवेदने जनः।
क इद दुष्कर कुर्यादिदानी शिविना विना" ॥१-२४॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विशाखदत्त ने प्रत्येक पात्र का चरित्र चित्रण अत्यन्त सफलता से करते हुए उसके व्यक्तित्व को भली भाँति व्यक्त किया है। मुद्रा-राक्षस के सभी चरित्र स्वाभाविक, स्पष्ट एवं सशक्त है और लेखक उनके चित्रण मे अपने कला-विधान को प्रदर्शित करने मे सफल हुआ है।

रस-परिपाक—इसमे तो सन्देह नही कि मुद्रा-राक्षस एक कथा-प्रधान एवं चरित्र-प्रधान नाटक है। इसी कारण विशाखदत्त ने नाटक के तृतीय तत्त्व रस की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। किन्तु रसात्मकता भारतीय साहित्य का मूल मानी जाती है। रस की धारा मे आप्लावित करके विभोर कर देनेवाला साहित्य ही उत्तम माना जाता है और साहित्य का मूल उद्देश्य रसात्मक आनन्द की, जो 'ब्रह्मानन्दसहोदर' है, उपलब्धि करना है। इसलिए रस भारतीय साहित्य मे उपेक्षित नही

हो सकता। मुद्रा-राक्षस मे चाहे कालिदास और भवभूति जैसी स्पष्ट एवं वेगवती रस-धारा भले ही न हो, किन्तु कवि ने उसकी उपेक्षा नही की है। उसकी रस-धारा अधिक गम्भीर और मन्थरगामिनी है और यही उसकी विशिष्टता भी है।

'मुद्रा-राक्षस' का अंगी रस वीर है। किन्तु वह वीररस नही, जिसमे निन्तर वीरो के उद्घोष, शस्त्रो की झनकार, वाहिनियो का ओज पूर्ण कोलाहल, रणवाद्यो के निनाद एवं अश्व-गजो के हिंसारव और चिघाड़ आदि का मूर्तिमान वर्णन होता है। 'मुद्रा-राक्षस' मे ऐसे वीर के उत्साह की व्यंजना है जो निस्पृह होते हुए भी जनहित की भावना से प्रेरित होकर विशाल साम्राज्य के स्वप्न को साकार करता है। वास्तव मे मुद्रा-राक्षस का वातावरण ऐसा है जिसमे युद्ध को स्थान नही दिया गया है, किन्तु युद्ध के हेतु जितना उत्साह वीर के हृदय मे होता है, उतना ही उत्साह नीतिवीर चाणक्य के हृदय मे भी है। जिसकी व्यजना विशाखदत्त ने स्थान-स्थान पर की है। चाणक्य की इस उक्ति मे उत्साह की कैसी तीव्र व्यंजना है :—

"आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्ती
को हर्त्तुमिच्छति हरे परिभूय दंष्ट्राम्" ॥१८॥

'वह कौन है, जो जँभाई लेते हुए सिह के मुँह फट जाने से चमकती हुई उसकी उन दाढो को उखाड़ना चाहता है, जो हाथी के रक्त का आस्वादन करने के कारण उसी प्रकार लाल कान्ति से युक्त है जिस प्रकार सन्ध्याकालीन लालिमा से युक्त चन्द्रमा की कला दिखाई देती है।'

वीरोत्साह की व्यंजना कवि ने राक्षस के मुख से भी कराई है। चाणक्य की कूटनीति द्वारा मलयकेतु से निष्कासित होकर पाटलिपुत्र के जीर्णोद्यान मे विचरण करता हुआ राक्षस जिस समय चन्दनदास को वध्य-स्थान पर ले जाने का समाचार सुनता है, उस समय उसका रक्त

खौलने लगता है और वह उसकी रक्षा के निमित्त अपनी असि को सँभालता हुआ कहता है :—

"निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्त्ति —
युद्ध-श्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद् विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते" ॥६-१६॥

'मेघरहित आकाश की भाँति चमकनेवाली यह मेरी तलवार जो रण मे श्रद्धा रखने के कारण पुलकित सी हो रही है, जिसने मेरे हाथ से मित्रता स्थापित कर ली है, जो युद्धरूपी कसौटी पर शत्रुओ द्वारा कसी जाकर अपने पराक्रम और गौरव मे खरी उतरी है, वही आज मुझे मित्र के स्नेह के कारण साहस की ओर बढने के लिए प्रेरित कर रही है।'

जैसा कि कहा जा चुका है कि मुद्राराक्षस का वीररस समरागण का वीररस नही है, सेनाओ की रणसज्जा इत्यादि का वीररस नही है, तथापि मलयकेतु के द्वारा सेनाओ की दौड-धूप का ऐसा वर्णन अवश्य हुआ है जो यह प्रमाणित करता है कि कवि मे युद्ध का चित्र उपस्थित करने की भी क्षमता है। देखिए :—

"गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।
पांशुव्यूहा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु" ॥५-२३॥

'हमारी सेना के घोड़ो के खुरपुटो से चूर्णित रणाङ्गण से उत्थित धूल गौड़ देश की स्त्रियो के लोध्रधूलि से चर्चित अत्यन्त सुगन्धित कपोलो को धूमिल बनाती हुई, उनके भ्रमरो के समान घुँघराले काले केशो को मलिन बनाती हुई तथा हमारे गजो के मदजल से मलिन कीचड़ को उछालती हुई शत्रुओ के मस्तको पर गिरे।'

वीर के सहयोगी रौद्ररस का परिपाक भी मुद्रा-राक्षस मे सर्वत्र हुआ है। चाणक्य, राक्षस और मलयकेतु की उक्तियाँ रौद्ररस से परिप्लावित

हैं। चन्द्रगुप्त के इस कथन—'विद्वासोऽप्यविकत्थना भवन्ति'—को सुनकर चाणक्य के कथन और उसकी चेष्टाओ का अवलोकन कीजिए। विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावो की पूर्ण योजना के साथ रौद्ररस की व्यञ्जना किस कौशल के साथ की गई है :—

"वृषल ! वृषल ! भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि ?—
शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः,
(भूमौ पादप्रहार कृत्वा)
प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरण.।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम्" ॥३-२६॥

'वृषल ! वृषल ! क्या सेवक के समान मेरे ऊपर चढ़ना चाहते हो ? क्या तुम यह चाहते हो कि मेरी बँधी हुई शिखा को पुनः खोलने के लिए मेरे हाथ दौड़ पड़े ? (पृथ्वी पर पैर पटकते हुए) ये चरण पुनः प्रतिज्ञा पर आरूढ होने के लिए चल रहे है। तुम इस समय नन्दो के विनाश से शान्त हुई मेरी क्रोधाग्नि को मृत्यु के वश मे हुए के समान होकर प्रज्वलित कर रहे हो।'

वीररस से पूर्ण होते हुए भी इस नाटक मे उसके साथ आनेवाले भयानक और वीभत्स रस का अभाव है। इसका कारण यही है कि इस नाटक का वीररस युद्धक्षेत्र का वीररस नही है। नीतियुद्ध का वीररस है। फिर भी भय की व्यंजना यत्र-तत्र हुई ही है। चाणक्य के रोष को देखकर चन्द्रगुप्त का आवेग भय का ही आभास दिलाता है। नाटक का वातावरण आरम्भ से अन्त तक अत्यन्त गम्भीर रहा है। नाटककार ने विदूषक की योजना भी नही की है। इसलिए हास्य-रस भी इस नाटक मे नही मिलता है। शृंगार-रस का भी अभाव है। यहाँ तक कि नाटककार ने चन्दनदास की स्त्री के अतिरिक्त अन्य किसी नारी पात्र का समावेश नाटक मे नही किया है। फिर भी नाटककार ने दो इस प्रकार के पद्यों का प्रयोग किया है, जिससे उसकी प्रतिभाशक्ति का यह परिचय

तो मिल ही जाता है कि नाटककार शृंगार रस के परिपाक मे अक्षम नही है। अप्रस्तुत रूप मे नारी रूपिणी राज्यलक्ष्मी की ये चेष्टाएँ शृंगार-रस की अभिव्यञ्जना का आभास देती है :—

"वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहतयाऽप्यङ्के पतन्त्या मुहुः।
गाढालिङ्गनसंगपीडितसुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीःस्तनम्" ॥२-१७॥

'(यही वे अमात्य राक्षस है) जिनके पराक्रमो से आतङ्कित होकर राज्यलक्ष्मी चन्द्रगुप्त के गले मे अपनी वाम भुजा को डालती तो है, किन्तु वह शिथिल रहती है। उसने अपना मुख चन्द्रगुप्त की ओर से फेर लिया है। उसकी दाहिनी भुजा बलपूर्वक उसके कधे पर रखी जाने पर भी बार-बार नीचे गिर जाती है और उसका दाहिना स्तन अभी भी चन्द्र-गुप्त के वक्षस्थल से सटकर भी उसे गाढ आलिंगन का सुख प्रदान नही कर पाता।'

करुण रस का प्रयोग भी कवि ने केवल एक स्थान पर ही किया है। वैसे तो अपने दूत के मुख से अपने अन्य विश्वासपात्र व्यक्तियो की मृत्यु का समाचार सुनकर राक्षस शोक की व्यञ्जना करता है, किन्तु वह रस की कोटि तक नही पहुँच पाता। वह समाचार शोक का उद्दीपक होने की अपेक्षा क्रोध का ही उद्दीपक अधिक है। अतएव जहाँ चन्दनदास को वध्य-स्थान पर लाया जाता है, वहाँ उसकी पत्नी और पुत्र के विलाप-वर्णन मे करुण रस का परिपाक हुआ है। इस प्रकार यद्यपि यह नाटक रस-प्रधान नहीं है तथापि यह अवश्य प्रमाणित करता है कि विशाखदत्त मे न केवल कथा संगठन और चरित्र-चित्रण की क्षमता थी, अपितु उन्हे वह हृदय भी प्राप्त था जो सामाजिको को रसाप्लुत कर सके। नाटक का वातावरण ऐसा था जिसमे रस की तीव्र व्यञ्जना के लिए स्थान न था।

प्रकृति-चित्रण—मुद्रा-राक्षस एक राजनैतिक नाटक है। उसकी कथा राजवंश एवं मन्त्रियो की राजनैतिक चालो से सम्बन्ध रखती है। उसके

राजकीय वातावरण मे प्रकृति के लिए अवकाश नही था। किन्तु कवि विशाखदत्त को अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय देना था। इसी कारण उन्होने कतिपय प्राकृतिक दृश्यो की योजना की है। यद्यपि उनमे प्रेम की तन्मयता का अभाव है, फिर भी वे दृश्य प्रकृति के प्रति कवि की अभिरुचि को अवश्य प्रदर्शित करते है। निम्नलिखित छन्द मे शरद्कालीन सरिताओ और दिशाओ की तुलना करते हुए कैसी सुन्दर दृश्य-योजना की है :—

"शनै. शान्ताभूता: सितजलधरच्छेदपुलिना:
समन्तादाकीर्णा: कलविरुतिभि: सारसकुलै: ।
चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्र कुमुदै-
र्नभस्त: स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दशदिश" ॥३-७॥

'शरद्काल की बड़ी-बड़ी सरिताएँ दशो दिशाओ के सदृश लग रही है और दिशाएँ सरिताओ के समान। एक ओर श्वेत मेघखंड शान्त होकर नदी के पुलिनो के समान दिखाई दे रहे है, दूसरी ओर मधुर स्वर-वाले सारसो से युक्त बालुकामय चमकते हुए शान्त पुलिन श्वेत मेघ-खंड जैसे है। एक ओर रात्रि मे विचित्र प्रकार के नक्षत्रो से युक्त आकाश की दिशाएँ ऐसी लग रही है जैसे विचित्र कुमुदो से पूर्ण सरिताएँ और दूसरी ओर विचित्र कुमुदो से पूर्ण सरिताएँ ऐसी प्रतीत होती है जैसे रग-बिरगे तारो से युक्त दिशाएँ हो।'

मुद्रा-राक्षस मे सर्वत्र प्रकृति-चित्रण अलकरण रूप मे ही हुआ है। एक स्थान पर शरद् ऋतु की तुलना प्रजाओ को नियन्त्रित करनेवाली राजसत्ता से की गई है। इसी प्रकार शरद्कालीन गंगा की तुलना मान को त्यागकर प्रियतम से मिलने के हेतु जानेवाली अभिसारिका नायिका से की गई है। एक स्थान पर वैतालिक द्वारा शरद् को महादेव का स्व-रूप प्रदान करके चन्द्रगुप्त की उसके द्वारा कल्याण-कामना की गई है। इस प्रकार कवि ने आलम्बन रूप मे प्रकृति का वर्णन नही किया है। शरद् ऋतु का पहला दृश्य ही कदाचित् बिम्ब ग्रहण कराता है। अन्य

दृश्यो मे अलंकृति पर ध्यान जाता है। विशाखदत्त ने जीर्णोद्यान का वर्णन करके प्रकृति के करुण दृश्य का चित्रण भी किया है। पाटलिपुत्र के जीर्णोद्यान की दयनीय दशा का अवलोकन कीजिए :—

"क्षताङ्गानां तीक्ष्णै. परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितै. ।
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया
श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिन:"॥६ १२॥

'यहाँ फन फैलाये फुफकारते हुए साँप दिखाई दे रहे है, जिनकी केंचुलो के टुकडे पेड़-पौधो की डालियो मे लटके हुए ऐसे लग रहे है, मानो लोगो के द्वारा सर्वथा उपेक्षित देखकर बड़ी बड़ी तीक्ष्ण धारवाली कुल्हाड़ियो से कटे-पिटे पेड़ो की निरन्तर कपोतो की करुण-कूजित ध्वनि के बहाने करुण क्रन्दन करनेवाली कटी पिटी टहनियो और डालियो के घावो पर इन साँपो ने ही सङ्कट मे पडे अपने पूर्व परिचित इन पेड़ पौधो की दयनीय दशा मे समवेदना दिखाने और आह खीचते मरहम पट्टी कर रखी हो।'

इन प्रकृति के चित्रो से विशाखदत्त की प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी प्रतिभा का परिचय मिलता है। यदि कवि स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण करता तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त होती। नाटक के गम्भीर राजनीति से पूर्ण वातावरण मे प्रकृति के जो चित्र कवि दे सका, वे ही उसकी प्रतिभा के निदर्शन के लिए पर्याप्त है।

भाषा-शैली—'मुद्रा-राक्षस' की शैली भी अन्य नाटको की अपेक्षा नाटकीय औचित्य के अधिक अनुकूल है। मुद्रा-राक्षसकार ने अपनी भाषा को कालिदास के समान न तो उपमाओ से अलंकृत किया है, न भवभूति के समान सामासिकता को अपनाया है और न भट्टनारायण के समान उसे कृत्रिमता प्रदान की है अपितु वह तो नाटकीय स्वाभाविकता के अधिक अनुकूल है। उसने अपनी शैली को आडम्बरपूर्ण आकर्षण

से दूर ही रखा है, उसकी स्वाभाविक गति मे बाधा उपस्थित करने का प्रयत्न नही किया। इसी कारण मुद्रा-राक्षस की शैली उसके पात्रो के व्यक्तित्व का सच्चा आभास दिखाने मे समर्थ हुई है। कवि ने जहाँ जैसी शैली की आवश्यकता हुई है, वैसी ही का प्रयोग किया है। विराधगुप्त द्वारा पाटलिपुत्र के वर्णन मे समस्त पद-योजना की है, जिससे उसके वैभव-वर्णन मे पुष्टता आ गई है। जहाँ भावो का आवेग है, वहाँ असमस्त पद-योजना है, जिससे उन भावो की यथार्थता का हनन नही हो पाया है।

विशाखदत्त ने अपने नाटक मे साकेतिक भाषा का भी प्रयोग किया है। जिससे भावी घटनाओ की अथवा किसी पात्र-विशेष के अभीष्ट लक्ष्य की ध्वनि निकलती है। नाटक का आरम्भ ही कवि ने इसी ध्वनि-मूलक भाषा द्वारा किया है। चाणक्य का रंगमञ्च पर प्रवेश सूत्रधार की चन्द्रग्रहण सम्बन्धिनी उक्ति द्वारा ही कराया गया है। इसी प्रकार यम-पट लेकर आनेवाले चाणक्य के गुप्तचर की इस उक्ति से चन्द्रगुप्त के विरोधियो को उसके द्वारा जानने की ध्वनि निकलती है :—

"कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम्।
सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि" ॥१-१६॥

'कमल सुन्दर होते हुए भी स्वभाव मे रूप के विरोधी होते है तभी तो ये सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र के भी वैरी ही बने रहते है।' जीर्ण विष सँपेरे की उक्ति भी इसी प्रकार ध्वनिमूलक है और वैतालिको का प्रशस्तिगान भी अर्थगर्भित है। यदा-कदा राक्षस के दूतों की सन्देहास्पद उक्तियाँ चाणक्य-नीति की विजय का आभास दिलाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि विशाखदत्त की शैली द्वारा नाटक के वृत का ही विकास नही होता, अपितु पात्रो के चरित्र की अभिव्यञ्जना भी सुन्दरता के साथ हो जाती है।

मुद्रा-राक्षस का नाटककार राजनीति का प्रकाण्ड पण्डित तो है ही, साथ ही वह न्याय-शास्त्र, ज्योतिष और नाट्य शास्त्र का भी विद्वान् है।

इसी कारण उसकी भाषा मे इन शास्त्रो के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग स्थान-स्थान पर हुआ है। उसकी अलंकार-योजना कही-कही इन्ही शास्त्रो के सिद्धान्तो पर आधारित हुई है। एक उदाहरण देना आवश्यक होगा :—

"साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थिति
व्यावृत्तश्च विपक्षतो भवति यत्, तत् साधनं सिद्धये।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धश्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः" ॥५-१८॥

'संग्राम मे वही सेना विजयिनी होती है, जो शास्त्रार्थ मे वादी के हेतु के समान हो—सर्वथा अपने पक्ष का पूर्ण समर्थन करने के निमित्त सन्नद्ध, प्रत्येक दशा मे समन्वित और अनुकूल, अपने समान पक्ष मे भी अवस्थित और साथ ही साथ विपक्ष के प्रतिकूल हो। ऐसी सेना से तो हमारे जैसे विजयाकाक्षी की पराजय ही अवश्यभावी है, जो वादी के उस हेतु के तुल्य है जिसे बार-बार सँभालना पडे, जिसे पक्ष और विपक्ष दोनो मे लागू होते देखा जाय और सत्य तो यह है कि जो अपने पक्ष से ही सर्वथा विरुद्ध पड़े।' इस छन्द मे लेखक ने 'न्याय' की पारिभाषिक पदावली को अपनाया है।

यद्यपि मुद्रा-राक्षस मे कालिदास के समान जीवन के सत्यो एवं आदर्श वाक्यो का स्पष्ट उपस्थापन नहीं मिलता है तथापि उनका अभाव भी नही है। मुद्रा-राक्षस की शैली मे ये इस प्रकार घुल-मिल गये है कि भिन्न नही प्रतीत होते। 'न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्', 'कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः', 'शिरसि फणी दूरे तत्प्रतीकारः', 'किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन् कृपणवत् श्लाघ्यो जनो लज्जते, निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम्', 'सेवा लाघवकारिणी कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः', 'दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति', 'विद्वान्सोप्यविकत्थना भवन्ति', 'दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा पूर्वं विपर्यस्यति' इत्यादि वाक्य इसी प्रकार के है जो किसी सत्य या किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं, किन्तु विशाखदत्त की शैली

"विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययोर्महावने वनगजयोरिवान्तरे।
अनिश्चयाद्गजवशयेव भीतया गतागतैर्भृशमिव खिद्यते श्रिया" ॥२-३॥

'इस साम्राज्य मे राजलक्ष्मी दोनो महामन्त्रियो के मध्य जय-पराजय का निश्चय न होने से भयभीत होती हुई कभी एक के पास और कभी दूसरे के पास जाती हुई उसी प्रकार दु.ख का अनुभव कर रही है जिस प्रकार वन मे दो वनगजो के मध्य जय-पराजय का निश्चय न होने से कोई हथिनी कभी एक के पास जाती है और कभी दूसरे के पास जाती है और इसी से दुःख उठाती है।'

अप्रस्तुत प्रशंसा पर कवि का असामान्य अधिकार है। प्रथम अंक मे अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा ही चाणक्य ने अपनी शक्ति का आभास दिलाया है और अन्त मे भी राक्षस के वश मे होने पर चाणक्य उसकी महत्ता अप्रस्तुत प्रशंसा द्वारा ही प्रकट करता है :—

"केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी ?
पाशै. केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ?
केनानेकपदानवासितसट. सिंहोऽर्पित. पञ्जरे ?
भीम. केन चलैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णव. ?" ॥७-६॥

'किसने कपडे के छोर मे ऊँची-ऊँची लपटो से युक्त लाल-लाल आग को बाँध लिया, किसने तुरन्त ही जाल से आँधी को भी गतिहीन बना दिया, किसने अनेको हाथियो के मदजल से भीगी सटाओवाले सिंह को पिंजडे मे बन्द कर लिया ? किसने अनेको नक्र मक्रो से विलोड़ित भयंकर महासमुद्र को हाथो से ही तैरकर पार कर लिया ?'

कवि की छन्द-योजना भी विषयानुकूल है। स्रग्धरा और शार्दूल-विक्रीडित नामक छन्दो को कवि ने अधिक अपनाया है। क्योंकि नाटक का वातावरण सर्वत्र गम्भीर रहा है। गम्भीर और असाधारण विषयो का सफल निर्वाह इन्ही छन्दो मे उपयुक्तता के साथ हो सकता है। एक स्थान पर 'सुवदना' छन्द का भी प्रयोग हुआ है। वह भी मलयकेतु

की उद्धतता की व्यंजना के लिए आवश्यक ही था। अन्य छन्दो का प्रयोग भी उनके स्थान के अनुरूप है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि मुद्रा-राक्षस के नाटककार ने भाषा-शैली, अलकार-योजना और छन्द योजना आदि मे सर्वत्र नाटकीय औचित्य का ध्यान रखा है। चाहे मुद्रा-राक्षस मे रस की अजस्र धारा न हो, भाषा का चमत्कार न हो, अलंकारो की आकर्षक सज्जा न हो, किन्तु उसका नाटकत्व सुरक्षित रहा है। यही उसकी सफलता है और यही है उसका वैशिष्ट्य।

वेणीसंहार

संस्कृत के नाट्याचार्यो ने अपने सिद्धान्तो के प्रतिपादन के निमित्त जिन नाटको से उदाहरण चयन किये है, उनमे वेणीसंहार विशेष उल्लेख-नीय है। वेणीसंहार नाटक के रचयिता भट्टनारायण है। भट्टनारायण मूलत· कन्नौज के निवासी थे। उनको बंगाल के राजा आदिशूर ने, दुर्भिक्ष के कुप्रभाव को दूर करने के लिए यज्ञ करने के निमित्त बुलाया था। तभी से वे वहीं रहने लगे। आदिशूर का समय कतिपय इतिहास-कार ६५० ई० के लगभग मानते हैं और अधिकाश के मत से आदिशूर आठवीं शताब्दी के आरम्भ मे हुए। आदिशूर ऐतिहासिको की दृष्टि मे पालवंशीय नरेशो से पूर्व गौड़ देश मे राज्य करनेवाले राजवंश के आदि पुरुष थे, जिन्होने ७१५ ई० मे राज्यारोहण किया था। डा० स्टेनकोनो का मत है कि आदिशूर मगध के अन्तिम गुप्तवंशीय नरेश माधवगुप्त का पुत्र था, जिसने कान्यकुब्ज-नरेश हर्षवर्द्धन की अधीनता से स्वतन्त्र होकर आदिशूर आदित्यसेन के नाम से ६७१ ई० तक राज्य किया। किन्तु कोनो के इस मत मे ऐतिहासिक तथ्य का अभाव है और यह उनकी कल्पना-मात्र है। नाटककार भट्टनारायण ने अपनी कृति मे अपने जीवन के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नहीं किया है। उनकी कृति से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे 'मृगराजलक्ष्मा' की उपाधि से विभूषित किये गये थे (यदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्मणो भट्टनारायणस्य अभिनवकृति वेणीसंहारं नाम नाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम्)। अतएव इनका जीवनवृत्त अन्धकार के गर्भ मे विलीन है। किन्तु बहिरंग प्रमाणों के आधार पर इतना निश्चित है कि काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिकार वामन से प्राचीन है। क्योकि वामन ने अपने ग्रन्थ में वेणीसंहार के एक पद (पतितं वेत्स्यसि क्षितौ ··) को उद्धृत करके उसकी युक्तिमता प्रदर्शित की है। वामन का समय ८०० ई० के लगभग माना जाता है। अतः भट्टनारायण

का समय निश्चित रूप से सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाना चाहिए।

वेणीसंहार की कथावस्तु का आधार महाभारत है। महाभारत की प्रसिद्ध घटना द्रौपदी के वेणीबन्धन के आधार पर इस नाटक की रचना की गई है। कौरवो की राजसभा मे दुःशासन के द्वारा अपमानित द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की कि जब तक उसके अपमान का प्रतिशोध नही लिया जायगा, तब तक वह अपनी वेणी नही बाँधेगी। भीम ने द्रौपदी के अपमान का बदला लेकर उसकी वेणी का संहार किया। इसी कारण इस नाटक का नाम वेणीसंहार रखा गया है। द्यूतक्रीड़ा मे पराजित होने के अनन्तर पाण्डवो को वनवास दिया गया था। वनवास की अवधि समाप्त होने पर युधिष्ठिर संधि करने के निमित्त श्रीकृष्ण को दूत बनाकर दुर्योधन के समीप भेजते है। इस समाचार को सुनकर भीम तथा द्रौपदी को दुःख होता है और वे युधिष्ठिर के प्रति अपना क्रोध भी व्यक्त करते है। क्योकि सन्धि उनकी प्रतिज्ञा-पूर्ति मे बाधक है। यही से नाटक का आरंभ होता है।

नान्दी के अनन्तर प्रस्तावना मे सूत्रधार श्लिष्ट पद्य के द्वारा पाडवों और कौरवो मे सन्धि कराने के लिए श्रीकृष्ण के गमन की सूचना देता है। इसी को सुनकर क्रोधाविष्ट भीम का प्रवेश होता है, जो लाक्षागृह मे जलाने का प्रयत्न करनेवाले, विष देकर मारनेवाले, राजसभा मे द्रौपदी के केशो तथा वस्त्रो को खीचकर उसका अपमान करनेवाले कौरवो के साथ कदापि सन्धि नहीं करना चाहता। वह अपने जीवित रहते कौरवो को स्वस्थ नही देख सकता। क्रोध के आवेश मे वह युधिष्ठिर की अवज्ञा करने के लिए भी तत्पर है, क्योकि पाँच गाँव लेकर सन्धि करनेवाले युधिष्ठिर उसके बद्धमूल वैर के शोधन मे बाधक है। अतः वह एक दिन के लिए केवल एक दिन के लिए उन्हे अपना ज्येष्ठ भ्राता नहीं मानता और न अपने को उनका आज्ञाकारी। क्योकि उसे उस वैर का शोधन अवश्य ही करना है, जिसमे न तो युधिष्ठिर ही कारण है न अर्जुन और न दोनो माद्रेय। वह तो उसका निजी वैर है, अतएव उसका बदला

वह अवश्य चुकायेगा। सहदेव भीम के इस रोष को शान्त करने की चेष्टा भी करता है, किन्तु इसी समय द्रौपदी का प्रवेश होता है। अतः भीम की रोषाग्नि मे आहुति पड़ जाती है। द्रौपदी की प्रेरणा से भीम का रोष और भी बढ जाता है और वह द्रौपदी को विश्वास दिलाता है कि अपनी प्रचण्ड भुजाओ से गदा को घुमाकर वह दुर्योधन का अवश्य ही उरु भग करेगा और उसके रक्त से रञ्जित हाथो से उसकी वेणी को सँवारेगा। इसी समय नेपथ्य से कृष्ण के सन्धि-चेष्टा से असफल लौटने तथा इससे रुष्ट होकर युधिष्ठिर के द्वारा रणघोषणा करने की सूचना मिलती है। रण दुदुभी के नाद को सुनकर भीम और द्रौपदी दोनो को ही प्रसन्नता होती है तथा भीम और सहदेव उल्लसित हृदय से द्रौपदी से बिदा लेकर युद्ध के लिए प्रस्थान करते है।

द्वितीय अंक मे दुर्योधन की पत्नी रात्रि मे देखे गये अमङ्गलजनक स्वप्न से व्यथित और भावी आशंका से दुखित होकर स्वप्नफल के निवारण का उपाय जानने के लिए स्वप्न को अपनी सखियो को सुनाती है। स्वप्न मे उसने देखा कि एक नकुल ने सौ पन्नगो का वध कर दिया है और वह उसके स्तनाशुक का अपहरण करने के लिए प्रयत्नशील है। दुर्योधन छिपकर इस स्वप्न की घटना को सुनता है और नकुल द्वारा भानुमती के स्तनाशुक अपहरण को माद्रेय के द्वारा समझकर माद्रेय (नकुल) और भानुमती के गुप्त प्रेम का संदेह करके क्रोधित होता है, किन्तु पूरा स्वप्न सुनकर उसके सन्देह का निराकरण हो जाता है। भानुमती स्वप्न का विवरण सखियो को सुनाकर उनकी सम्मति से एक अनुष्ठान की आयोजना करती है। जिस समय वह सूर्य की पूजा मे रत होकर अपनी दासी से अर्घ्य पात्र माँगती है और दासी किसी अन्य परिचर्या मे व्यस्त हो जाती है, उसी समय अवसर पाकर अर्घ्य-पात्र लेकर दुर्योधन प्रविष्ट होता है। वह व्रत से क्षीण भानुमती के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए अपना प्रेम-प्रदर्शन करता है और भानुमती अपने व्रत को पूरा करने की तथा नियम भग न करने की प्रार्थना करती है। दुर्योधन उसके व्रत को व्यर्थ का कष्ट बताकर उसे आलिगनपाश मे आबद्ध करना चाहता है। भानुमती

इसका विरोध करना चाहती है, किन्तु इतने मे ही तीव्र झंझावात आ जाता है। भानुमती भयभीत होकर दुर्योधन से लिपट जाती है। इसी दशा मे दोनो दारुपर्वत नामक प्रासाद मे चले जाते है। जिस समय दुर्योधन और भानुमती प्रेमालाप मे लीन होते है, उसी समय झंझावात के शात हो जाने पर जयद्रथ की माता और पत्नी (दुर्योधन की भगिनी) व्यथित होती हुई आती है और उसे सूचना देती है कि अभिमन्यु की मृत्यु से दुःखी होकर अर्जुन ने सूर्यास्त होने तक जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की है। अतएव आप उसकी रक्षा की व्यवस्था कीजिए। दुर्योधन दोनो को आश्वासन देकर सान्त्वना प्रदान करता है और अपने विजय-रथ पर आसीन होकर युद्ध के लिए प्रस्थान करता है।

तृतीय अङ्क के प्रवेशक मे राक्षस और राक्षसी के वार्तालाप से युद्धभूमि की विभीषिका और द्रोणाचार्य के वध की सूचना मिलती है। प्रवेशक के बाद पिता के वध के समाचार से शोकाभिभूत तथा क्रुद्ध अश्वत्थामा का प्रवेश होता है। कृपाचार्य अश्वत्थामा को सान्त्वना देते है तथा शीघ्र प्रतिशोध के लिए उसको सेनानायक बनाने का औचित्य प्रतिपादित करने के निमित्त वे उसे साथ लेकर दुर्योधन के समीप जाते है। उधर कर्ण दुर्योधन को यह समझा देता है कि वास्तव मे द्रोणाचार्य अश्वत्थामा को समस्त भूमण्डल का सम्राट् बनाना चाहते थे। जब उन्होने अश्वत्थामा के निधन का समाचार सुना तो उनकी आशाओ पर तुषारापात हो गया। अतः उन्होने अश्वत्थात्मा के मरने पर शस्त्र ग्रहण करना व्यर्थ समझा और इसी शोक से दुखी होकर उन्होने अस्त्र त्याग कर स्वय ही प्राण दे दिये। द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के विरुद्ध उत्पन्न हुई दुर्योधन की मनःस्थिति के समय ही कृपाचार्य के साथ अश्वत्थामा उसके समीप आता है। अश्वत्थामा पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए अपने को सेनापति बनाने का प्रस्ताव उपस्थित करता है और कृपाचार्य उसका अनुमोदन भी करते है, किन्तु दुर्योधन कर्ण को सेनापति बनाने के लिए वचनबद्ध होने की बात कहकर अपनी विवशता व्यक्त करता है। अश्वत्थामा पुनः अपने पराक्रम के प्रति दुर्योधन का विश्वास

जगाकर सेनापतित्व के लिए आग्रह करता है। सिइ पर कर्ण उस पर व्यंग्य करने लगता है। दोनो मे कटु वाक्-युद्ध होता है और क्रोधावेश मे अश्वत्थामा कर्ण के जीवित रहने तक शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञ कर लेता है। इसी समय नेपथ्य से भीम की यह उद्घोषणा सुनाई देती है कि जिसके हृदय के रक्त को पान करने की मैने प्रतिज्ञा की थी, वह दु'शासन मेरे भुज पञ्जर में आबद्ध है, किसी कौरव मे बल हो तो वह उसकी रक्षा करे। अश्वत्थामा के प्रेरित करने पर कर्ण और दुर्योधन दोनो उसकी रक्षा के निमित्त गमन करते है। उनको रक्षा करने मे असमर्थ पाकर अश्वत्थामा स्वयं शस्त्र ग्रहण करने के लिए उद्यत होता है, किन्तु आकाशवाणी उसकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर उसे सचेत कर देती है। इस पर दुःशासन की रक्षा न कर सकने के कारण अश्वत्थामा को वेदना होती है और वह देवताओ को भी पाण्डवो का पक्षपाती जानकर अपनी प्रतिज्ञा पर पश्चात्ताप करता है।

चतुर्थ अङ्क मे युद्ध मे आहत तथा मूर्च्छित दुर्योधन को सारथि युद्ध-भूमि से बाहर ले आता है। संज्ञा प्राप्त करने पर उसे दु'शासन के वध का पता चलता है। वह उसके शोक में रुदन करने लगता है। उसी समय सुन्दरक नामक दूत आकर उसे कर्ण के पुत्र के वध की सूचना देता है तथा युद्धभूम की गतिविधि से अवगत कराता है। साथ ही कर्ण का दु'खा-तिरेक के भरा पत्र भी देता है। दुर्योधन उस पत्र को पढकर पुनः युद्धभूमि के लिए जाना चाहता है, तभी संजय के साथ धृतराष्ट्र और गाधारी का प्रवेश होता है।

पञ्चम अङ्क मे यही दृश्य चलता है। धृतराष्ट्र और गाधारी दोनो अनेक प्रकार से दुर्योधन को समझाते है और सन्धि करने के लिए प्रेरित करने की चेष्टा करते है, किन्तु दुर्योधन किसी भी प्रकार उनसे सहमत नही होता। तभी कर्ण के वध की सूचना प्राप्त होती है। दुर्योधन को महान् दु ख होता है और वह युद्ध के लिए प्रस्थान करना चाहता है। इसी समय दुर्योधन की खोज करते हुए भीम और अर्जुन वही आ जाते

हैं। दोनो धृतराष्ट्र और गाधारी को प्रणाम करते है, किन्तु भीम प्रणाम करते समय भी कटूक्तियो का प्रयोग करता है। इसी से दुर्योधन और भीम मे वाक् युद्ध आरम्भ हो जाता है। दोनो एक दूसरे को द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान करते है। उसी समय युधिष्ठिर का आदेश उन्हे बुलाने के लिए आता है और वे दोनो चले जाते है। उसी समय अश्वत्थामा आकर दुर्योधन को सान्त्वना देता हैं और युद्ध का भार वहन करके उसे निश्चिन्त होने के लिए कहता है। किन्तु दुर्योधन उसकी अवज्ञा करता है और अपनी मृत्यु की भी प्रतीक्षा करने के लिए कहता है। अपमानित अश्व-त्थामा चला जाता है। उसे समझाने के लिए गाधारी संजय को भेज देती है। उसके अनन्तर सभी शल्य को सेनापति बनाने के लिए उसके शिविर को प्रस्थान करते है।

छठवे अङ्क मे भीम की दुर्योधन को सन्ध्या तक वध करने की और असफल होने पर स्वयं प्राण देने की प्रतिज्ञा से चिन्तित युधिष्ठिर का प्रवेश होता है। उसी समय कृष्ण का यह सन्देश आता है कि भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध हो रहा है। भीम की विजय निश्चित है। अतएव युधिष्ठिर अपने विजयोत्सव तथा राज्याभिषेक की सज्जा करे और द्रौपदी अपने 'वेणीसंहार' का उत्सव मनाने के लिए तत्पर हो जाय। प्रसन्नता के इसी वातावरण मे दुर्योधन का पक्षपाती चार्वाक नामक राक्षस सन्यासी का वेष धारण करके आता है और यह सूचना देता है कि उसने समन्त पञ्चक मे भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध तो देखा है किन्तु शरद् ऋतु की प्रचण्ड धूप के कारण तृषार्त होने से वह अर्जुन और दुर्योधन का गदा युद्ध पूर्णतः नही देख पाया। युधिष्ठिर अर्जुन और दुर्योधन के गदा-युद्ध की बात सुनकर चौक उठते हैं। तभी वह राक्षस उन्हे बताता है कि युद्ध मे भीम की मृत्यु हो चुकी है। कृष्ण को बलराम अपने साथ ले गये। अब अर्जुन और दुर्योधन का युद्ध हो रहा है, जिसमे अर्जुन की मृत्यु भी निश्चित है। शोक से अभिभूत होकर युधिष्ठिर और द्रौपदी मरने के लिए तत्पर होते है। चार्वाक उन्हे और भी मरने के लिए उकसाता है। जब युधिष्ठिर चिता की योजना करने लगते है, तभी चार्वाक

चला जाता है और गुप्त रूप से उन दोनो के चितारोहण करने पर अग्नि लगाने के अवसर की प्रतीक्षा करता है। तभी नेपथ्य मे कोलाहल होता है। युधिष्ठिर इसे दुर्योधन का आगमन समझकर शस्त्र धारण करने के लिए तत्पर होते है और द्रौपदी छिपने की चेष्टा करती है। तभी दुर्योधन के रक्त से रञ्जित भीम आकर वेणीसंहार के लिए द्रौपदी को पकड़ लेता है। युधिष्ठिर उसे दुर्योधन समझकर उसे अपनी भुजाओ मे कस लेते है और मारना चाहते है। किन्तु बाद मे उन्हे ज्ञात हो जाता है कि वह भीम है। द्रौपदी प्रसन्नतापूर्वक अपनी वेणी बाँधती है। तभी प्रसन्नमुद्रा मे वासुदेव कृष्ण और अर्जुन भी उपस्थित हो जाते है। इसके अनन्तर भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

वस्तु-विवेचन—जहाँ तक सन्धियो, अर्थ-प्रकृतियो और अवस्थाओ के शास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्बन्ध है, वेणीसंहार मे उनका निरूपण पूर्णतः करने की चेष्टा की गई है। किन्तु सन्ध्यङ्गो की योजना नाट्य-शास्त्र के ग्रंथो मे दिये गये क्रमानुसार ही नही है। यथा—नाट्य-शास्त्र के ग्रंथो मे मुख सन्धि के अंगो मे पहले विलोभन का उल्लेख किया गया है, तदुपरान्त प्राप्ति का। किंतु वेणीसंहार मे पहले प्राप्ति[1] का उदाहरण मिलता है और बाद मे विलोभन[2] का। इसी प्रकार अन्य सन्धियो के अंगो की योजना मे व्यतिक्रम दृष्टिगत होता है। वेणीसंहार नाटक की वस्तु का प्रधान कार्य द्रौपदी की वेणी का संहार (बाँधना) है। इस कार्य का बीज युधिष्ठिर का क्रोध है, भीम का नही। क्योकि युधिष्ठिर के क्रोध के बिना

---

[1] 'चेटी—भट्टिणि ! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि।' इत्युपक्रमे 'भीम.—मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः। सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन' ॥१-१५॥

द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध ! असुदपुव्वं खु एदं वअणं ता पुणो पुणो भणादि इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति।

[2] मन्थायस्तार्णवाम्भः ... दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥१-२२॥

युद्ध-घोषणा सम्भव नही थी और बिना युद्ध के कार्य-सम्पादन नहीं हो सकता था। वेणीसहार के प्रथम अङ्क मे 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इस भीमोक्ति से लेकर 'मन्थायस्तार्णवाम्भ दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्' (१-२२, तथा 'क्रोधज्योतिमिद महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते' (१-२४) तक युधिष्ठिर के क्रोध रूप बीज की सूचना दी गई है। इस प्रकार प्रथम अङ्क मे मुखसन्धि है। द्वितीय अङ्क मे प्रतिमुख सन्धि है। जहाँ युधिष्ठिर का क्रोधरूपी बीज बिन्दु के रूप मे फैलता दृष्टिगत होता है। साथ ही भानुमती के स्वप्न से कौरवो के विनाश की सूचना मिलती है, भीष्म के निधन का पता चलता है तथा दुर्योधन के जिह्वा-स्खलन से नाटकार ने यह सूचित किया है कि पाण्डु-पुत्र बान्धवो सहित दुर्योधन को मार डालेगा।[1] तृतीय अङ्क से गर्भ सन्धि आरम्भ होती है और वह पाँचवें अंक तक चलती है। यह सधि वेणीसहार मे सबसे लम्बी है। छठवे अङ्क मे युधिष्ठिर की सदेहास्पद अवस्था से अवमर्श[2] सन्धि का आरम्भ होता है और वह भीम के पहचाने जानेवाली घटना तक चलती है। कंचुकी द्वारा भीम को पहचान लेने से निर्वहण सन्धि[3] आरम्भ होती है और वह अन्त तक चलती है।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से वेणीसंहार की कथावस्तु का विकास युक्तियुक्त है। किन्तु नाटकीय कला-विधान की दृष्टि से वह निर्दोष नही कहा जा सकता। नाटक की प्रमुख घटना वेणीसंयमन भीम प्रतिज्ञा से सम्बद्ध है। किन्तु नाटककार ने महाभारत के सम्पूर्ण कथानक को समाविष्ट करने के प्रलोभन से असम्बद्ध घटनाओ की भी योजना की है, जो

---

[1] सहभृत्यगणं सबान्धव समित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुत. सुयोधनम् ॥२-५॥

[2] भीमेन प्रियसाहसेन रभसात्स्वल्पावशेषे जये।
सर्वे जीवितसशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥६-१॥

[3] अयं खल्वायुष्मान्भीमसेन सुयोधनक्षतजारुणीकृतशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः।

मूल कार्य तक कथा की गति मे बाधक ही प्रतीत होती है। वीररस प्रधान नाटक मे दुर्योधन और भानुमती के प्रेम का चित्रण नितान्त अनुपयुक्त है। मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' मे इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' कहकर दोष के रूप मे घोषित किया है। साहित्य-दर्पणकार ने भी इसे अनुपयुक्त ठहराया है तथा पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने भी इसे अनावश्यक कहा है। वास्तव मे यह प्रणय-चित्रण नाटक की प्रभावोत्पादकता मे बाधक है, कथानक की गति मे शैथिल्य उपस्थित करनेवाला है और दुर्योधन के चरित्र को पतन की पराकाष्ठा तक पहुँचानेवाला है। पं० चन्द्रशेखर पाडेय[1] ने दुर्योधन को नायक मानकर इस प्रणय-दृश्य का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु जैसा कि हम देखेगे दुर्योधन इस नाटक का नायक नही और यदि दुर्योधन को नायक मान भी लिया जाय, तो भी यह प्रणय-दृश्य उचित नही कहा जा सकता है। जहाँ तक नायक के पराभव और शोक की तीव्रता से प्रेक्षको को प्रभावित करने के लिए प्रेम-व्यापार के चित्रण का सम्बन्ध है, वहाँ तक उसे अनुचित नही कहा जा सकता। किन्तु जिस रूप मे उसका चित्रण किया गया है, उससे दुर्योधन की कामुकता ही प्रकट होती है और वह उसके द्वारा प्रेक्षको की सहानुभूति का अर्जन नही कर पाता। व्रतशीला भार्या के व्रत को भंग करने की कुचेष्टा कैसे उचित कही जा सकती है? यदि नाटककार प्रेम-व्यापार का चित्रण अन्य प्रकार से करता तथा प्रेमाभिभूत नायिका से नायक को युद्ध के लिए सज्जित कराता और दोनो के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करता, तो उसे औचित्य की सीमा मे लिया जा सकता था। किन्तु जिस रूप में यहाँ चित्रण हुआ है, उसे किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार तीसरे अंक का अश्वत्थामा और कर्ण का वाक्-युद्ध अत्यन्त मार्मिक और प्रभावपूर्ण होते हुए भी नाटकीय फल का प्रेरक न होने से अनावश्यक प्रतीत होता है। अश्वत्थामा के शस्त्र त्याग की घटना के समय भीम द्वारा दुःशासन का वध चित्रित करने और उसमे

[1] संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा तृतीय सस्करण पृ० २२९

अश्वत्थामा द्वारा दुःशासन को बचाने की चेष्टा से विरत होने का चित्रण करने से भीम की महत्ता मे कमी ही हो जाती है। यदि अश्वत्थामा भी दुःशासन को बचाने की चेष्टा करता और फिर भी भीम उसके उर का रक्त-पान करने मे सफल होता तो भीम के गौरव मे वृद्धि होती और नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से वह अधिक अच्छा होता। स्व० पाडेय[१] जी ने दुर्योधन को नायक मानकर इस वाक्कलह के भी महत्त्व को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। छठवे अंक मे चार्वाक नामक राक्षस के द्वारा कथानक को जो मोड़ दिया गया है, वह भी अनावश्यक है। इस घटना की योजना से धीरोदात्त नायक युधिष्ठिर का उपहास सा प्रतीत होता है और ऐसी दशा मे उनका करुण चित्रण प्रभावोत्पादक नहीं हुआ है तथा वह अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

महाभारत की समस्त घटना को अपनाने के कारण तथा उसे नाटकीयता के अनुरूप सज्जित न करने के कारण इस नाटक मे घटनाओ का बाहुल्य हो गया है और नाटककार उन्हे एक सूत्र मे सम्बद्ध नही कर पाया है। अन्विति का अभाव होने के कारण ये समस्त घटनाएँ नाटक की गत्यात्मकता मे बाधक हुई है। नाटकीय कला का गौरव इसी मे है कि व्यापार के द्वारा नाटक की कथा विकास की ओर धावित हो और उसमे धारा जैसी गतिमयता हो। इस नाटक मे इसका भी अभाव है। नाटककार ने कथा को व्यापार के द्वारा गति प्रदान नही की है, वर्णन के द्वारा उसे आगे बढाया है। चतुर्थ अंक मे सुन्दरक ने युद्ध-भूमि का जो वर्णन किया है, वह कवित्वपूर्ण होते हुए भी कथानक की गति को शिथिल करनेवाला तथा प्रभावहीन है। इसी प्रकार द्वितीय अंक मे भानुमती का स्वप्न-वर्णन भी आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है। इस प्रकार वेणीसहार की विभिन्न घटनाएँ अपने व्यष्टि रूप मे अत्यन्त प्रभावपूर्ण, रससिक्त और मार्मिक है, किन्तु समष्टि रूप से वे नाटक की गति मे बाधक होने से नाटक के समग्र प्रभाव को क्षीण कर देती है।

---

[१] **संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा, तृतीय संस्करण, पृ० २३१**

नाटककार ने अपने कथानक के मध्य मे कही-कही भावी घटनाओ की सूचना दी है और भवभूति की भाँति पताकास्थानक तथा गण्ड आदि का भी प्रयोग किया है। जिसे अंग्रेजी नाटको मे ड्रामेटिक आइरनी कहा जाता है। द्वितीय अंक मे जिस समय दुर्योधन अपनी पत्नी भानुमती को अपनी जंघा पर बैठने के लिए कहता है, उसी समय कंचुकी आकर कहता है कि उसे तोड़ डाला गया है। इस घटना से प्रेक्षक दुर्योधन की जंघा टूटने की भावी घटना का सकेत प्राप्त कर लेता है :—

"राजा—तत्किमित्यनास्तीर्णं कठिनशिलातलमध्यास्ते देवी

यतः—लोलांशुकस्य पवनाकुलितांऽशुकान्तं
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य।
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य
पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥२-२३॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तः)

कञ्चुकी—देव ! भग्नम् (सर्वे साकूतं पश्यन्ति)
राजा—केन ?
कञ्चुकी—देव ! भीमेन।
राजा—कस्य ?
कञ्चुकी—भवतः।
राजा—आ. ! किं प्रलपसि ?
भानुमती—अज्ज ! किं अणत्थं मन्तेसि (आर्य ! किमनर्थं मन्त्रयसि)
राजा—धिक्प्रलापिन् ! वृद्धास्पद ! कोऽय मद्यते व्यामोहः ?"

इस स्थल मे प्रेक्षक भी तुरन्त ही 'भग्नम्' का अन्वय 'उरु युग्मम्' से लगा लेता है। बाद मे कञ्चुकी से पता चलता है कि भयंकर पवन ने दुर्योधन का रथ-केतन तोड़ डाला है। कञ्चुकी—देव ! न कश्चिद्व्यामोहः। सत्यमेव ब्रवीमि :—

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥२-२४॥

इस प्रकार नाटककार ने नाटकीय कौतूहल की सृष्टि की है। इस योजना को गण्ड कहा जाता है। विश्वनाथ ने इसे तृतीय प्रकार का पताका-स्थानक कहा है। इसी प्रकार भावी घटना की सूचना के लिए ही भानुमती के स्वप्न की योजना की गई है। वहाँ सौ सर्प कौरवो के प्रतीक है और नकुल भीम का प्रतीक है। दुर्योधन के जिह्वा स्खलन से भी भावी घटना की सूचना मिल जाती है। नकुल शब्द के श्लेष से दुर्योधन की भ्रान्ति भी कम कौतूहलजनक नही है। भट्टनारायण ने शास्त्रीय सिद्धान्तो का पालन करते हुए कथानक को रोचक बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है। किन्तु वह नाटकीय कला को सज्जित नही कर पाया है।

पात्र-परिचय—वेणीसंहार नाटक के नायकत्व का प्रश्न विवादास्पद है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत है। कुछ विद्वान् दुर्योधन को इसका नायक मानते है, कुछ भीमसेन को और कुछ युधिष्ठिर को। स्वर्गीय पं० चन्द्र-शेखर पाण्डेय[1] ने दुर्योधन को नायक मानते हुए निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये है। "१—भट्टनारायण ने दुर्योधन के चरित्र-चित्रण मे विशेष परिवर्तन करके उसे हमारी दृष्टि मे ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। महाभारत का दुर्योधन यदि कपट और द्वेष की प्रतिमूर्ति है, तो वेणी-संहार का दुर्योधन एक महान् पात्र है, जो बरबस हमारी संवेदना प्राप्त कर लेता है। यदि भट्टनारायण को अपना नायक दुर्योधन को बनाना इष्ट न होता, तो वे क्यो अपनी प्रतिभा द्वारा उसका उज्ज्वल चित्रण करते ? २—दुर्योधन प्रथम अंक के अतिरिक्त शेष सभी अंको मे रङ्गमञ्च पर उपस्थित रहता है और प्रथम अंक में भी उसी के कार्य-कलाप पर प्रेक्षको का ध्यान केन्द्रित रहता है। ३—दुर्योधन अपनी वीरता और

---

[1] सस्कृत-साहित्य की रूपरेखा, पृ० २२८ (तृतीय संस्करण)

आत्मसम्मान की भावना से हमारे आदर का पात्र बन जाता है। वह एक स्नेही भ्राता, विश्वस्त मित्र और कट्टर योद्धा है। आत्मश्लाघी भीम से उसका सर्वत्र विरोध दिखाया गया है। दुर्योधन की दुर्बलताएँ हमारी सहानुभूति को जाग्रत् करती है। भीम की अपेक्षा दुर्योधन मे मानवता अधिक है। पराजित दुर्योधन विजयी भीम की अपेक्षा अधिक महान् प्रतीत होता है। ४—नाटक की कथा दुर्योधन के कारण रोचक और हृदयग्राही बनती है। कौरव-पाण्डव-युद्ध केवल उसी के निर्णय पर निर्भर है।

अब हमे देखना है कि पाण्डेयजी के तर्कों मे कितना तथ्य है। पाडेयजी के तर्कों मे दुर्योधन के चरित्र की महानता पर विशेष बल दिया गया है। किन्तु क्या उसका चरित्र वास्तव मे इतना महान् नाटककार ने चित्रित किया है, जितना वे समझते है? वास्तव मे दुर्योधन के चरित्र मे हमे तो इतनी उज्ज्वलता प्रतीत नहीं होती कि उसे नायक के आसन पर प्रतिष्ठित किया जा सके। दुर्योधन का परिचय सर्वप्रथम हमे इस रूप मे मिलता है कि हमारी उसके प्रति उन्नत धारणा हो ही नही पाती। कंचुकी, जो उसका सेवक ही है, उसके सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट करते हुए कहता है—"स्त्रीभावेऽपि वर्तमाना वरं भवती, न पुनर्महाराजो, योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अबलवत्सु वा वासुदेवसहायेषु पाडुपुत्रेश्वरिषु च, अद्याप्यन्तःपुरविहारसुखमनुभवति।"

'स्त्री होते हुए भी आप (भानुमती) जितनी श्रेष्ठ है, उतने महाराज (दुर्योधन) नही। क्योकि जब शत्रु लोग—जो स्वयं बलवान् है या कृष्ण जैसे बली की सहायता से बलवान् हो रहे है—चढ़ाई कर रहे है, उस समय महाराज अन्तःपुर मे ही आनन्द ले रहे है।' दुर्योधन की विलासिता के प्रति कंचुकी की इस उक्ति से प्रेक्षक के हृदय मे भी उसके प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है। आगे वही कंचुकी दुर्योधन के दूसरे अनौचित्य का उल्लेख करते हुए उसके प्रति घृणा प्रदर्शित करता हुआ कहता है—"इदमपरमयथातथं स्वामिनश्चेष्टिम्। कुत ?

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्याऽयमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात्" ॥२-२॥

महाराज की यह दूसरी बात भी अनुचित है कि जिस भीष्म पितामह ने शस्त्र-ग्रहण काल से लेकर अमोघ परशुवाले मुनि परशुराम को भी जीत लिया था, वे पाडुपुत्रो द्वारा शरशय्या पर सुला दिये गये, इसकी तो उनको कुछ चिन्ता और शोक नही है, परन्तु बडे-बड़े अनेक महावीरो की विजय से थके हुए, एकाकी और जिसका धनुष टूट गया है, ऐसे बालक अभिमन्यु के मारे जाने से महाराज बडे प्रसन्न हो रहे है।' कंचुकी के इन विचारो को हम दुर्योधन मे मूर्तिमान पाते है। वह स्वयं भी कहता है —

"गुप्त्या साक्षान्महानल्पः स्वयमन्येन वा कृतः ।
करोति महती प्रीतिमपकारोऽपकारिषु ॥२-३॥

येनाद्य द्रोणकर्णजयद्रथादिभिर्हतमभिमन्युमुपश्रुत्योच्छ्वसितमिव नश्चेतसा।" अपकारी शत्रु की हानि—वह चाहे गुप्त हो या प्रकट, अधिक हो या कम, स्वयंकृत हो या अन्यकृत—चित्त को अत्यन्त प्रसन्न करती है। इसीलिए द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि ने अभिमन्यु को मार दिया, यह सुनकर मेरे मन ने सुख से साँस ली।

इस प्रकार दुर्योधन हमारे समक्ष इस रूप मे उपस्थित होता है, कि उसे हमारी सहानुभूति किञ्चित्-मात्र भी नहीं मिल पाती और जब वह व्रतशीला पत्नी के व्रतभंग की चेष्टा करके अपनी कामुकता का प्रदर्शन करता है तो वह हमारी दृष्टि से अत्यन्त गिर जाता है। पता नही पाण्डेयजी ने उसके चरित्र मे उज्ज्वलता के दर्शन कहाँ से कर लिये। नाटक मे दुर्योधन की वीरता का भी कही प्रदर्शन नही दृष्टिगत होता। वह युद्धभूमि मे भीम के गदाघात से आहत होकर मूर्च्छित दिखाया गया है। उसकी

वीरता दूसरो के ही बल पर है। जब युद्ध मे सभी वीर मारे जाते है और सारा भार स्वयं अपने ऊपर आता है, तो भागकर जल-स्तम्भन विद्या के बल से सरोवर मे छिप जाता है और अपने प्राण बचाने की चेष्टा करता है। यह कहाँ तक एक वीर के लिये उचित है। इसके अतिरिक्त दुर्योधन मे हम दुराग्रह भी पर्याप्त मात्रा मे पाते है। वह अपने पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारी की सुसम्मति को, करुणा भरी प्रार्थना को भी ठुकरा देता है और युद्ध के हठ को नही छोड़ता। संजय, यद्यपि उसका भृत्य ही था, तथापि अवस्था मे अधिक तथा उसके पिता का परामर्शदाता होने के कारण उसके आदर का ही पात्र था, उसके प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हुए वह अवज्ञा के साथ कहता है—"(सक्रोधं) शृणुमस्तावद्भवत एव प्रज्ञावतोऽस्मान्प्रति प्रतिरूपमुपदेशम्।" '(क्रोध से) अच्छा कहो तो सही, तुम्हारे ऐसे महापण्डित का हमारे प्रति क्या योग्य उपदेश है, जरा हम भी तो सुनें।' यह एक महान् और उदारचेता मनुष्य के लिए कहाँ तक उचित है। इसके अतिरिक्त वह भी भीम की भाँति विकत्थन (आत्मश्लाघी) है। गान्धारी द्वारा समझाने पर वह आत्मश्लाघा करते हुए कहता है।

"एकोऽहं जगतीत्रयक्षयकरो मात.! कियन्तोऽरयः
साम्यं केवलमेतु दैवमधुना निष्पाण्डवा मेदिनी" ॥५६॥

'हे माता! मै अकेला ही तीनों लोको को नष्ट कर सकता हूँ, शत्रु कितने है? केवल भाग्य अनुकूल होना चाहिए, फिर तो पृथ्वी पाण्डवो से रहित कर दूँगा।' उसकी इस आत्मश्लाघा मे ढपोरशख जैसी निरर्थकता का ही आभास मिलता है और 'उद्योगिनम् पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति' के अनुसार इस कथन से दुर्योधन की कायरता ही प्रतिभासित होती है। दुर्योधन द्रोणाचार्य के प्रति कर्ण की बातो मे आकर कूट षड्यन्त्र का विश्वास कर लेता है, इससे प्रतीत होता है कि उसमे स्वस्थचेता होने का गुण नही है। इस विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि उसमे दुर्गुण ही भरे है और कोई विशेषता नही

है। वह एक स्नेही भ्राता और सच्चा मित्र है। भाइयो के निधन से उसे हार्दिक दुःख होता है और विशेषकर दुःशासन के वध का समाचार सुनकर तो उसे इतनी वेदना होती है कि वह लज्जा के कारण अपने माता-पिता के सम्मुख जाने का भी साहस नही कर पाता। मित्र के प्रति भी उसका स्नेह हार्दिक है। कर्ण की मृत्यु का समाचार पाकर उसे सर्वाधिक दुःख होता है और उसी के दुःख के कारण वह अश्वत्थामा की भी अवहेलना कर बैठता है। इसके अतिरिक्त उसके हीन चरित्र मे कहीं-कही वीरोचित महानता भी दिखाई देती है। जिस समय धृतराष्ट्र उसे गुप्त रूप से शत्रुओ को मारने की मन्त्रणा देते है, उस समय वह स्पष्ट शब्दो में कहता है :—

"प्रत्यक्षं हतबान्धवा मम परे हन्तुं न योग्या रहः,
किंवा तेन कृतेन तैरिह कृतं यत्र प्रकाश्यं रणे?" ॥५-८॥

'जिन पाण्डवो ने मेरे भाइयो को प्रत्यक्ष रूप से मारा है, उनको गुप्त रूप से मारना उचित नही है। जो युद्ध भूमि मे प्रत्यक्ष रूप से उन्होने किया है, यदि उसी प्रकार न किया गया, तो उसका करना ही व्यर्थ है।' इस कथन मे उसके वीरोचित दर्प का आभास मिलता है। किन्तु इस प्रकार की उच्च भावनाएँ उसके चरित्र का अंग न होकर यत्र तत्र ही पाई जाती है। इस कारण दुर्योधन इस नाटक का नायक किसी भी प्रकार नही हो सकता। वह स्पष्ट रूप से प्रतिनायक है और उसमे जो वीरता-सूचक भावनाएँ यत्र-तत्र पाई जाती है वे नायक के गौरव की वृद्धि करने में ही साधक होती है।

कतिपय विद्वान् भीम को इस नाटक का नायक मानते है। उनकी दृष्टि मे 'वेणीसंहार' की प्रधान घटना वेणीसयमन भीम और द्रौपदी से सम्बद्ध है। वेणीसहार के निमित्त भीम की दुर्योधन की जघाओ को तोड़कर उसके रक्त से रञ्जित हाथो से द्रौपदी के केश बाँधने की प्रतिज्ञा[1]

---

[1] मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपाद्दुःशासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धि करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥१-१५॥

ही बीज ज्ञात होती है। भीम इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए आरम्भ से लेकर अन्त तक प्रयत्नशील दृष्टिगत होता है। प्रत्येक अङ्क मे उसकी त्वेषमयी गर्जना तथा प्रतिज्ञा श्रवणगत होती है। यद्यपि द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अङ्क मे हम उसे रंगमंच पर उपस्थित नही देखते, तथापि उसके कार्य कलाप की सूचना प्रेक्षको को मिलती रहती है। द्वितीय अङ्क मे कंचुकी द्वारा भीम मारुत से ध्वजा के टूटने की सूचना मिलती है। तृतीय अंक मे भीम की यह गर्जना नेपथ्य से सुनाई देती है—

"यस्योरस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्,
सोऽयम् यद्भुजपञ्जरे निपतित· संरक्ष्यतां कौरवाः" ॥३-४७॥

जिसके हृदय रक्तरूपी आसव को पीने की मैने प्रतिज्ञा की थी, वह दुःशासन मेरे भुजपञ्जर मे आ गिरा है, कौरव उसकी रक्षा करें। चतुर्थ अंक मे सुन्दरक के द्वारा भीम के पराक्रम की सूचना प्राप्त होती है। इस प्रकार वेणीसंहार के कथानक का वह मूलाधार है। उसके क्रोध से तो ऐसा ज्ञात होता है कि यदि युधिष्ठिर-सन्धि भी कर लेते, तो भी वह उनकी आज्ञा की अवहेलना करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता। यदि नाटक मे से भीम के व्यक्तित्व को अलग कर दिया जाय, तो नाटक मे रह ही क्या जायगा ? इसके अतिरिक्त नाटक का नाम 'वेणीससार' भी भीम की प्रमुखता को सिद्ध करता है। इसलिए भीम को ही इस नाटक का नायक मानना चाहिए।

इस कथन मे सार्थकता होते हुए भी भीम को नायक मानने मे सैद्धान्तिक आपत्ति खड़ी हो जाती है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नाटक की परिभाषा करते हुए दशरूपककार धनञ्जय ने उसके नायक के सम्बन्ध मे कहा है—'अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान्।' और धीरोदात्त के गुणो का प्रतिपादन इस प्रकार किया है :—

"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः" ॥

'धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान्, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहंकार वाला तथा दृढव्रत होता है।' भीम का चरित्र इससे सर्वथा विपरीत है। वह असंयत, उच्छृङ्खल, दर्पोन्मत्त और असभ्य-सा प्रतीत होता है। उसका असंयम और अपने पूज्य भ्राता के प्रति अशिष्टता इन शब्दो से प्रकट होती है :—

"युष्मच्छासनलङ्घनांऽहसि मया मग्नेन नाम स्थितं,
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवान्
अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव" ॥१-१२॥

'मै आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने के पाप मे डूब रहा हूँ। स्थिति मतिवाले भाइयो मे भी निन्दित हो रहा हूँ। पर एक दिन मे ही मै क्रोध से तानी हुई रुधिर से लाल गदा से कौरवो का नाश कर दूँगा। तब तक केवल एक दिन के लिए न आप मेरे गुरु है और न मै आपका आज्ञाकारी छोटा भाई।' यह अशिष्टता उस समय तो और भी बढ जाती है जब अपने सौ पुत्रो की मृत्यु से शोकान्वित धृतराष्ट्र और गाधारी को प्रणाम करते समय कटूक्तियो के द्वारा क्षत पर क्षार छिड़कता है :—

"चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनाऽसृजा।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति" ॥५-२८॥

'सम्पूर्ण कौरवो को नष्ट करनेवाला, दुःशासन के रक्तपान से मत्त तथा दुर्योधन की उरुओ को (भविष्य मे) भङ्ग करनेवाला यह भीम आपकी सिर नवाकर पूजा करता है।' यहाँ पर भीम का चरित्र दर्शको को भी खटकने लगता है। उसकी दर्प भरी उक्तियाँ तो हमे सर्वत्र सुनाई पड़ती है। यद्यपि उसकी दर्पोक्तियाँ उचित है और वह उन्हे सार्थक प्रमाणित करके अपनी वीरता का परिचय भी देता है, तथापि उसकी वीरता मे गम्भीरता की गरिमा नही है, उच्छृङ्खलता की उद्दण्डता है। इसी

कारण वह इस नाटक का प्रमुख पात्र, कथानक का मूलाधार होते हुए भी नायकत्व के गौरव का अधिकारी नहीं कहा जा सकता।

युधिष्ठिर मे वह गुण विद्यमान है, जो एक नाटक के नायक के लिए वाछनीय है। युधिष्ठिर महासत्व, अत्यन्त गम्भीर, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहंकार और दृढव्रत है। उन्होने सत्य की रक्षा, कुलक्षय की आशंका, शान्ति की प्रतिष्ठा के हेतु युद्ध से विरत होने तथा सन्धि करने का पर्याप्त प्रयत्न किया। यहाँ तक कि उनके भ्रातागण भी उनकी इस शान्तिप्रियता से सन्तुष्ट नही थे। फिर भी वे कोई कार्य विवेकहीनता तथा शीघ्रता मे नही करना चाहते थे। प्रयत्न करने पर भी जब दुर्योधन ने अपनी हठवादिता का परित्याग नही किया। और वह सन्धि के निमित्त प्रस्तुत नही हुआ तो उन्हे युद्ध घोषणा करनी पड़ी। नाटककार ने उनके उस सौम्य किन्तु तेजस्वितापूर्ण क्रोध का वर्णन इन शब्दो मे किया है :—

"यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता।
तद्द्यूतारणिसम्भृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते" ॥१-२४॥

'जिस क्रोध को अपने सत्यरूपी व्रत के भग होने के डर से राजा युधिष्ठिर ने बडे प्रयत्नपूर्वक रोका था, तथा अपने कुल की शान्ति की इच्छा से जिस क्रोध को महाराज ने भूलने का भी अत्यधिक प्रयत्न किया था, वह द्रौपदी के केश और वस्त्र के खीचने से द्यूतरूपी अरणि से निकला हुआ क्रोधरूपी अग्नि कुरुवंश रूपी वन को जलाने के लिए अब प्रचण्ड रूप धारण कर रहा है।'

युधिष्ठिर की शालीनता, क्षमाशीलता की प्रशंसा शत्रु भी करते है। उनको भी विश्वास है कि युधिष्ठिर किसी भी समय सन्धि के लिए प्रस्तुत हो सकते है। यहाँ तक कि धृतराष्ट्र भी दुर्योधन को समझाते हुए कहते है—"वत्स! एवं गतेऽपि मत्प्रार्थनया किन्न करोति युधिष्ठिरः? अन्यच्च

सर्वमेवापकृतं नानुमन्यते।" 'पुत्र! इतना होने पर भी युधिष्ठिर मेरी प्रार्थना पर क्या नही कर सकता। वह सभी अपकारो को भूलकर शान्ति के लिए प्रस्तुत रहता है।' इससे युधिष्ठिर की शान्तिप्रियता का परिचय मिलता है युधिष्ठिर के हृदय मे अपने भाइयो के प्रति अतुल और अगाध प्रेम है। उनकी प्रतिज्ञा है—"नाहमेकस्यापि भ्रातुर्विपत्तौ प्राणान्धारयामि।" मै एक भी भाई का निधन होने पर प्राणो को धारण नहीं करूँगा। और हम देखते है कि भीम के निधन का समाचार मात्र सुनकर वे मूर्च्छित हो जाते है और फिर चिता चुनकर मरने के लिए प्रस्तुत हो जाते है। यद्यपि इस घटना से उनका मातृ-प्रेम अवश्य प्रकट होता है, तथापि एक दृढ चेता और वीर व्यक्ति के लिए यह शोभ्य नही है। फिर भी युधिष्ठिर मानव ही है, देवता नही।

इसके अतिरिक्त भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार फल के भोक्ता को ही नायक मानते है। इस नाटक का फल शत्रुसहार तथा राज्यप्राप्ति है और उसके भोक्ता युधिष्ठिर ही है। 'वेणीसंहार' नाम होते हुए भी केवल द्रौपदी की वेणी-सज्जा ही नाटक का फल नही है और न महाभारत का युद्ध ही इस कारण हुआ। यदि दुर्योधन कृष्ण की बात मानकर सन्धि कर लेता तो युद्ध की सम्भावना ही नही थी। युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि ही इस नाटक की कथा का बीज है, भीम या द्रौपदी की क्रोधाग्नि नही। भीम का क्रोध युधिष्ठिर का ही मुखापेक्षी है। इसके अतिरिक्त नाटको की जैसी परिपाटी है, कि नायक ही प्रायः भरतवाक्य का कथन करता है। इस नाटक मे युधिष्ठिर ने ही भरतवाक्य का प्रयोग किया है। इसलिए नायकोचित विशिष्ट गुणो से मण्डित होने के कारण, नाटक के फल का भोक्ता होने के कारण तथा भरतवाक्य का कथन करनेवाला होने के कारण केवल षष्ठ अंक मे उपस्थित होते हुए भी युधिष्ठिर को ही इस नाटक का नायक मानना समीचीन है।

इस नाटक के उदात्त चरित्रवाले पात्रो मे वासुदेव श्रीकृष्ण प्रमुख है। श्रीकृष्ण को नाटककार ने सामान्य पुरुष के रूप मे चित्रित न करके

भगवान् के अवतार के रूप मे ही चित्रित किया है। प्रथम अंक मे उनके दूत बनकर दुर्योधन की सभा मे जाने और दुर्योधन के सहमत न होने पर अपने विराट् रूप के प्रदर्शन से उसको सभा सहित चमत्कृत तथा भयभीत करने का सकेत मिलता है। जो उनकी राजनैतिक पटुता का निदर्शन भी है। वे नाटक मे केवल षष्ठ अंक मे ही उपस्थित होते है। फिर भी ऐसा लगता है कि नाटक की कथा का सूत्र-संचालन उन्हीं के द्वारा हो रहा है। वे ही युधिष्ठिर और द्रौपदी को राज्याभिषेक तथा केश-संयमन उत्सव का आदेश देते है और अन्त मे नाटककार ने उनके मुख से यह कहलवा-कर कि "तत्कथय महाराज, किमस्मात् परं समीहित, साधयामि", उनकी महत्ता प्रतिपादित की है और शत्रुओ के विनाश तथा वेणीसंहार का समस्त श्रेय उन्ही को प्रदान किया है। अन्त मे युधिष्ठिर ने जो विनय की है, वह भी उन्हे भगवान् का अवतार ही प्रमाणित करती है :—

"कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम्।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वापि न त्वां
भवति जगति दुःखी, कि पुनर्देव दृष्ट्वा" ॥६-४३॥

"हे भगवान्! पृथ्वी आदि पञ्चभूत व महत्तत्व आदि को उत्पन्न करनेवाले अव्यक्त के क्षोभ से जिसकी शिव विष्णु आदि मूर्तियाँ प्रादुर्भूत होती है तथा त्रिगुणात्मिका माया के सम्पर्क से जो गुणी है, प्रजा की उत्पत्ति, स्थिति और नाश के प्रति जो कारण है, जो अज है, अमर है, अचिन्त्य है, ऐसे आपको स्मरण करके भी जगत् मे मनुष्य दुःखरहित हो जाता है, जो आपका दर्शन करता है, उसकी तो बात ही क्या है ?'

अन्य पुरुष पात्रो मे कर्ण और अश्वत्थामा प्रमुख है। किन्तु उनका सर्वाङ्ग चित्र नही उपस्थित किया गया। अश्वत्थामा को पितृभक्त और वीर पुरुष के रूप मे चित्रित किया गया है। पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर उसको जो हार्दिक व्यथा होती है और उस शोक से आहत होकर शत्रुओं के प्रति वह जिस प्रकार अपने रोष की अभिव्यक्ति करता है,

वह अत्यन्त मार्मिक और प्रभावपूर्ण है। सेनापतित्व की आकाक्षा मे व्याघात होने और उसका कारण कर्ण होने से कर्ण का वध होने तक शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा भी स्वाभाविक है। किन्तु जब प्रतिज्ञा मे बद्ध होने से कारण वह शत्रु के पंजे में फँसे हुए दुःशासन की रक्षा नही कर पाता, तो उसे अपनी प्रतिज्ञा पर पश्चात्ताप होता है और कर्तव्य की पूर्ति न होने से उसे ग्लानि भी होती है। नाटककार ने उसकी इस दशा का चित्रण करके उसे ऊँचा उठा दिया है। वह कहता है :—

"सत्यादप्यनृतं श्रेयो धिक्स्वर्ग नरकोऽस्तु मे।
भीमाद्दुःशासन त्रातुं त्यक्तमत्यक्तमायुधम्" ॥३-४८॥

'इस समय सत्य से असत्य ही श्रेयस्कर है, ऐसे स्वर्ग को धिक्कार है, मुझे नरक ही प्राप्त हो। किन्तु भीम से दुःशासन की रक्षा करने के लिए त्यक्त आयुधो को धारण करता हूँ।'

कर्ण को कवि ने वीर के रूप मे तो चित्रित किया ही है। किन्तु अपने स्वार्थ (सेनापतित्व) के लिए द्रोण के प्रति दुर्योधन की दुर्भावना जगाकर उसका चरित्र कुछ गिरा दिया है।

स्त्री पात्रो मे द्रौपदी और भानुमती प्रमुख है। द्रौपदी कौरवो द्वारा अपमानित नारी है। उसका क्रोध एक सच्ची क्षत्राणी के अनुरूप ही है। उसके क्रोध की व्यञ्जना अत्यन्त प्रभावोत्पादकता के साथ हुई है और मुक्त केशो के संयमन के निमित्त ही नाटक का नाम वेणीसंहार रखा गया है। किन्तु अन्त मे जाकर द्रौपदी का कोप नाटक की कथा का बीज प्रतीत नही होता। वह अवान्तर बीज मात्र रह जाता है। भानुमती के चरित्र की एक झलक ही दिखाई देती है। उसे नाटककार ने एक पतिव्रता नारी के रूप मे चित्रित किया है, जिसे अपने पति के कल्याण की सर्वदा चिन्ता रहती है और उसी के निमित्त वह अपने को कष्ट मे डालकर भी व्रत की साधना करती है। कंचुकी तक ने उसकी प्रशंसा की है।

इस प्रकार वेणीसंहार के नाटककार को पात्रो के चरित्र-चित्रण मे

अत्यन्त सफलता मिली है। उसके सभी चरित्र सजीव, मार्मिक, स्वाभाविक और श्लाघनीय है। उनमे कृत्रिमता का आभास भी नही मिला। इसी कारण संस्कृत के चरित्र प्रधान नाटको मे वेणीसंहार का प्रमुख स्थान समझा जाता है।

रस-परिपाक—भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र मे नाटक का तीसरा तत्त्व रस माना है। किन्तु दृश्यकाव्य होने से नाटक मे अभिनेयता का गुण सर्वाधिक वाछनीय है। कथानक की गत्यात्मकता, अभिनय की कुशलता, व्यापारो की क्रमिक संयोजना आदि की दृष्टि से वेणीसंहार को सफल नाटक नही माना जा सकता। वह दृश्य-काव्य की कसौटी पर खरा नही उतरता। किन्तु रस-परिपाक की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त सुन्दर, सफल और प्रभावोत्पादक है। इस नाटक का प्रधान रस वीर है। प्रथम अंक से ही वीर-रस की धारा प्रवाहित होती है, जो अप्रतिहत गति से बहती हुई तथा अन्य रस के श्रोतो को अपने मे समाहित करती हुई आनन्द मे परिणत हो जाती है। प्रथम अंक मे ही भीम की वीररस से पूर्ण उक्तियाँ सुनाई देती है। द्रौपदी के सन्धि की सम्भावना के कारण सदा वेणी मुक्त रहने की चिन्ता व्यक्त करने पर भीम उसे अश्वासित करते हुए वीरदर्प के साथ कहता है :—

"चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः" ॥१-२१॥

'हे देवि! यह भीम शीघ्र ही अपनी फड़कती हुई भुजाओ से घुमाकर फेंकी गई प्रचण्ड गदा के आघात से दुर्योधन की जाँघो को चूर्ण करके, उसके अत्यन्त दृढता से चिपके हुए गाढे रुधिर से रँगे हुए हाथो द्वारा तुम्हारे बालों को सँवारेगा।'

द्वितीय अंक मे अर्जुन की जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा से भयभीत

जयद्रथ की माता तथा अपनी भगिनी दुःशला को सान्त्वना देते हुए दुर्योधन ने अपनी सेना का जो वर्णन किया है, वह भी वीररस का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। दुर्योधन कहता है :—

"कोदण्डज्याकिणाङ्कैरगणितरिपुभिः कङ्कटोन्मुक्तदेहैः
श्लिष्टान्योऽन्यातपत्रैः सितकमलवनभ्रान्तिमुत्पादयद्भिः।
रेणुग्रस्तार्कभासां प्रचलदसिलतादन्तुराणां चमूना-
माक्रान्ता भ्रातृभिर्मे दिशि दिशि समरे कोटयः सम्पतन्ति" ॥२-२७॥

'धनुष की प्रत्यञ्चा की चोट से जिनके हाथो मे चिह्न बन गये है, जो शत्रुओ को कुछ समझते ही नही, जो कवचधारी है, युद्ध-यात्रा के समय जिनके परस्पर सटे हुए श्वेत छत्रो से श्वेत कमल-वन की भ्रान्ति उत्पन्न होती है, ऐसे मेरे वीर भाइयो से समन्वित, तथा जिसकी धूल से सूर्य की कान्ति आच्छादित हो गई है, जो सब प्रकार के तलवार आदि शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित है, इस प्रकार की मेरी करोड़ो सेनाएँ युद्धभूमि मे चारो ओर से शत्रु पर टूट पड़ती हैं।' दुर्योधन का शौर्य और पराक्रम इस वर्णन मे साकार हो उठा है।

अपने पिता की मृत्यु का समाचार जानकर जहाँ अश्वत्थामा को शोक होता है, वहाँ शत्रु के प्रति रोष भी उत्पन्न होता है और उसके विनाश की प्रेरणा भी-उत्पन्न होती है। उसका हृदय वीरोत्साह से पूर्ण हो जाता है और वह पाण्डवो के प्रति अपने क्रोध को प्रकट करता हुआ उत्साह की व्यंजना इस प्रकार करता है :—

"पितुर्मूर्ध्नि स्पृष्टे ज्वलदनलभास्वत्परशुना
कृतं यद्रामेण श्रुतिमुपगतं तन्न भवताम्?
किमद्याश्वत्थामा तदरिरुधिरासारविघसं
न कर्म क्रोधान्धः प्रभवति विधातुं रणमुखे" ॥३-२५॥

'अपने पिता के सिर का दुष्ट क्षत्रिय सहस्रबाहु द्वारा स्पर्श किये जाने पर अग्नि के समान प्रदीप्त परशु से जो परशुराम ने किया था (२१ बार

क्षत्रिय-हनन) क्या वह आपने सुना नही है ? क्या क्रोध से अन्धा हुआ मै अश्वत्थामा आज युद्ध मे उसी प्रकार शत्रुओ के रक्त की प्रबल धारा से पितरो का तर्पण नही कर सकता हूँ ?'

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से रंगमञ्च पर युद्ध का दृश्य उपस्थित करना उचित नही समझा जाता है। इसी कारण भट्टनायक ने युद्ध के चित्र वर्णन के द्वारा उपस्थित किये है। नाटकीय कला की दृष्टि से वे वर्णन गत्यात्मकता मे बाधक होते हुए भी चित्राङ्कन और रस-परिपाक की दृष्टि से श्लाघ्य है। सुन्दरक दुर्योधन से अर्जुन और कर्ण-पुत्र वृषसेन के युद्ध का जो वर्णन करता है, वह अत्यन्त मार्मिक है। अर्जुन की वीरता और उसके युद्ध कौशल का एक शब्द-चित्र देखिए :—

"गण्डीविणा तारसिदजीआणिग्घोसमेत्तविण्णादबाणवरिसेण तह आअरिदं पत्तिहि जह ण णहत्तलं ण सामी ण रहो ण धरणी ण कुमालो ण केदुवंसो ण बलाइं ण सारही ण तुलङ्गमा ण दिसाओ ण वीरलोओ ण लक्खीअदि।" 'अर्जुन ने बाणो की झड़ी लगा दी और प्रचण्ड ध्वनिवाली प्रत्यञ्चा के निर्घोष से ही बाणो की वर्षा ज्ञात होती थी, वैसे शीघ्रता के कारण बाण का चढाना और छोड़ना ज्ञात न होता था। उसने बाण-वर्षा मे ऐसी कुशलता दिखाई कि न आकाश, न कर्ण, न रथ, न भूमि, न कुमार वृषसेन, न ध्वजा का बाँस, न सेना, न सारथी, न अश्व, न दिशाएँ और न वीर पुरुष ही दृष्टिगत होते थे।'

वीर-रस का ही सहयोगी रौद्ररस होता है। इसलिए इस नाटक में रौद्ररस का भी अच्छा परिपाक हुआ है। भीम और दुर्योधन के क्रोध का वर्णन तो समस्त नाटक मे स्थान-स्थान पर मिलेगा। किन्तु रौद्ररस की सबसे सुन्दर व्यंजना तृतीय अंक मे कर्ण और अश्वत्थामा के विवाद में हुई है। अश्वत्थामा पिता की मृत्यु पर पाण्डवो के प्रति अपने क्रोध को प्रकट करता हुआ कहता है :—

"यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।

यो यस्तत्कर्म साक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्" ॥३-३२॥

"पाण्डवो की सेना मे जिसे अपने बाहुबल का अभिमान है, जो शास्त्र-धारी वीर है, तथा पाञ्चाल वंश मे जो वीर योद्धा है, जो बडे या छोटे या गर्भस्थ बालक है और जो युद्ध मे मेरे समक्ष विरोधी बनकर आवेगा, उन सबके लिए मै क्रोधान्ध अश्वत्थामा काल का भी काल हूँ।"

अश्वत्थामा की इन्ही त्वेषपूर्ण बातो का उपहास कर्ण करता है और अश्वत्थामा उसके सूतपुत्र होने पर व्यंग्य करता है। उसी व्यग्य का उत्तर देते हुए कर्ण कहता है :—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्त तु पौरुषम्" ॥३-३५॥

'चाहे मै सूत हूँ या सूत्र का पुत्र। कोई भी क्यो न होऊँ, इससे क्या ? क्योकि कुल मे जन्म देना तो अदृष्टाधीन है, पर पौरुष तो मेरे ही अधीन है।' कर्ण की इस उक्ति मे अश्वत्थामा पर कितनी तीव्र चोट की गई है और अपने रोष तथा पौरुष-जनित उत्साह की कैसी मार्मिक व्यजना है ? इससे कवि की रस-प्रवणता का परिचय मिलता है।

संग्रामस्थल के वर्णन मे वीभत्स रस का भी संचार अवश्य ही पाया जाता है। रंगमंच पर संग्राम का दृश्य उपस्थित न होने पर भी इस नाटक में वीभत्स रस का अभाव नही है। तृतीय अंक मे राक्षस तथा राक्षसी (रुधिर प्रिय और वसागंधा) के संवाद मे वीभत्स रस का वर्णन मिलता है। एक उदाहरण देना यथेष्ट होगा :—

"हतमाणुशमंशशोणिदेहि कुम्भशहश्शं वशाहि शचिदम्।
अणिशं अ पिबामि शोणिअं शमले वरिशशदं हुबीअदु" ॥३-१॥

'मृत मनुष्यो के मास, रक्त तथा चर्बी से मैने सहस्रो घड़े भर लिये हैं। मै रात-दिन रक्तपान करती हूँ। इसलिए यह युद्ध सौ वर्ष तक चले तो अच्छा।'

कवि ने द्वितीय सर्ग मे शृंगार-रस की योजना कराई है। आचार्यो ने यद्यपि उसे 'अकाण्डे प्रथनम्' कहा है तथापि कवि ने नाटक की शास्त्रीय परम्परा का पालन करने के लिए उसका चित्रण किया है। शृंगार का सम्भोग पक्ष ही कवि ने वर्णित किया है। दुर्योधन अपनी व्रतशीला पत्नी भानुमती से जिन शब्दो मे प्रणय निवेदन कर रहा है, उनमे कितनी सरसता है :—

"प्रेमाबद्धस्तिमितनयनापीयमानाब्जशोभं
लज्जायोगादविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा।
वक्त्रेन्दुं ते नियममुषितालक्तकाङ्काऽधरं वा
पातुं वाञ्छापरमसुलभं किं नु दुर्योधनस्य" ॥२-१८॥

'हे प्रिये! प्रेमाभिभूत होने से निश्चल हुए नेत्रो के द्वारा जिसने कमल के सौन्दर्य को जीत लिया है, लज्जा के कारण जिससे स्पष्ट वचन नही निकल रहे है, जो मन्द-मन्द मुस्कराहट प्रकट कर रहा है, व्रत के कारण जिसके अधर से अलक्तक का चिह्न भी मिट गया है, उस अत्यन्त सुलभ तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा को पान करने की इच्छा क्या दुर्योधन को न होगी ?'

इस नाटक मे स्वप्न दर्शन के अनन्तर भानुमती की दशा वर्णन मे, द्रोणाचार्य की मृत्यु के बाद अश्वत्थामा के रुदन वर्णन मे, दुःशासन के वध के अनन्तर तथा कर्ण की मृत्यु के अनन्तर दुर्योधन के विलाप-वर्णन में, अपने पुत्र की मृत्यु का दृश्य देखकर कर्ण के नैराश्य वर्णन मे, धृतराष्ट्र और गाधारी द्वारा दुर्योधन को समझाने के वर्णन मे और चार्वाक द्वारा भीम के निधन का समाचार सुनकर द्रौपदी और युधिष्ठिर के करुण विलाप वर्णन में करुण रस का परिपाक मिलता है। धृतराष्ट्र दुर्योधन को जिन शब्दो में समझा रहे है, उनमे कितनी निराशा, कितनी वेदना और कितनी हृदय की आर्त्तावस्था भरी हुई है, देखिये :—

"दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ द्रोणभीष्मौ हतौ,
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात्।

वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपु शेषप्रतिज्ञोऽधुना,
मानं वैरिषु मुञ्च तात ! पितरावन्धाविमौ पालय" ॥५-५॥

'जिनके बल से हमने अपने पट्टीदारो (शत्रुओ) को कुछ भी नही समझा, वे द्रोणाचार्य और भीष्म दोनो ही मारे गये। कर्ण के समक्ष ही देखते-देखते उसके पुत्र को अर्जुन ने मार दिया। (जिससे) उससे सारा संसार भयभीत है। मेरे पुत्रो के मारे जाने से शत्रु (भीम) इस समय केवल तुम्हारे जीवित रहने से अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नही कर पाया है। इसलिए हे पुत्र ! अब शत्रुओ से अपने मान को छोड़ो और इन अन्धे माता-पिता का पालन करो।'

शान्त-रस तथा कवि की दार्शनिक अभिव्यक्ति इस श्लोक से होती है :—

"आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ,
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्वनिष्ठा. ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्,
तं मोहान्ध. कथमयममु वेत्तु देवं पुराणम्" ॥१-२३॥

'आत्मा मे ही रमण करनेवाले, निर्विकल्प समाधि मे निरत रहनेवाले, ज्ञान के उद्रेक से अज्ञान की ग्रंथियो को नष्ट करनेवाले, सतोगुण से सम्पन्न योगी लोग अन्धकार और प्रकाश से परे जिसको कुछ अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप मे देखते है, उस पुरातन पुरुष (भगवान् श्रीकृष्ण) को यह मोह से अन्धा दुर्योधन कैसे पहचान सकता है।'

द्रोणाचार्य के निधन पर कौरवो की सेना के पलायन वर्णन मे और भीम मे दुर्योधन की भ्रान्ति हो जाने पर पाडवो के परिजनो और द्रौपदी के व्यथित होकर भागने आदि के वर्णन मे भयानक रस का वर्णन हुआ है और सुन्दरक ने जहाँ अर्जुन और कर्ण-पुत्र के युद्ध का वर्णन किया है, वहाँ अद्‌भुत रस का परिपाक मिलता है। इस नाटक का वातावरण आरम्भ से अन्त तक गम्भीरता से पूर्ण रहा है। इसी से संस्कृत के अन्य नाटको की भाँति इसमे विदूषक की योजना नही की गई है और इसी

कारण हास्यरस का नितान्त अभाव है। इस प्रकार यह नाटक रस-परिपाक की दृष्टि से अत्यन्त सफल कहा जा सकता है।

प्रकृति-चित्रण—कवि भट्टनारायण की प्रवृत्ति कृत्रिम सौन्दर्य की ओर अधिक दृष्टिगत होती है। इसी से उन्हे नैसर्गिक सुषमा मोहित नही कर सकी है। इसके साथ ही कवि ने जिस कथानक को चुना है, उसमें प्रकृति वर्णन के लिए अवकाश का भी अभाव है। फिर भी कवि ने अवसर निकाल ही लिया है। वेणीसंहार में प्रकृति के मनोरम और भयंकर दोनो ही स्वरूपो का वर्णन मिलता है, किन्तु उद्दीपन रूप मे। उसे प्रातःकाल कमलकोशो का परित्याग करते हुए परागलिप्त भ्रमर अंगराग रंजित उन राजाओ के समान प्रतीत होते है जो अपनी प्रियतमाओ के साथ अपनी प्रणय-शय्या का परित्याग करते है और भयंकर झंझावात मे भी मधुरता इस कारण आ जाती है कि वह भानुमती को भयभीत बनाकर दुर्योधन से आलिङ्गन के निमित्त उसको विवश कर देती है। फिर भी कवि ने कंचुकी के मुख से प्रातःकालीन मनोरम दृश्य का वर्णन कराया है। देखिये :—

"प्रालेयमिश्रमकरन्दकरालकोशैः
पुष्पैः समं निपतिता रजनीप्रबुद्धैः।
अर्कांशुभिन्नमुकुलोदरसान्द्रगन्ध-
ससूचितानि कमलान्यलयः पतन्ति" ॥२-७॥

'तुषार से मिश्रित मकरन्द के कारण जिन पुष्पो का कोश टेढ़ा हो गया है तथा जो रात मे खिलते रहे है, उन कुमुदादि पुष्पो से भ्रमरगण, सूर्य की किरणों से विकसित होनेवाले, भीनी-भीनी सुगन्ध को सूचित करनेवाले कमल-पुष्पो पर एक साथ ही गिर पड़ते है।' इसी प्रकार प्रकृति की भयंकरता का एक चित्रण भी देखिए :—

"दिक्षु व्यूढाङ्घ्रिपाङ्गस्तृणजटिलचलत्पांशुदण्डोऽन्तरिक्षे,
झाङ्कारी शर्करालः पथिषु, विटपिनां स्कन्धकोषैः सधूमः।
प्रासादानां निकुञ्जेष्वभिनवजलदोद्गारगम्भीरधीर-
श्चण्डारम्भः समीरो वहति परिदिशं भीरु! किं सम्भ्रमेण" ॥२-१६॥

'दसो दिशाओ मे जिसने वृक्षो के पत्ते आदि इधर-उधर बखेर दिये है अथवा वृक्षो की शाखाएँ इधर-उधर विक्षिप्त कर दी है, आकाश में जो तिनका आदि से जटिल, चक्राकार धूलि-दण्ड की भाँति लम्बा हो रहा है, मार्गों मे जो झंकार करता हुआ बालू के कणो और छोटी छोटी कंकड़ियो से भरा हुआ है, प्रासादो के उद्यानो मे वृक्षो की शाखाओ के सघर्ष से जो धुएँ के समान व्याप्त हो गया है तथा जो नवीन बादल की भाँति गर्जना कर रहा है, ऐसा भयंकर झंझा पवन समस्त वस्तुओ को तोड़ता-फोड़ता चारो ओर से बढ़ता हुआ आ रहा है। हे भीरु ! भयभीत होने की आवश्यकता नही।' कवि ने विकट वर्णो तथा समासयुक्त शैली द्वारा चित्र सा खड़ा कर दिया है।

भाषा-शैली—वीररस प्रधान होने के कारण वेणीसंहार की शैली भी उसके अनुरूप अपनी विशिष्टता रखती है। कवि ने अपनी भाषा के द्वारा रस-संचार मे पर्याप्त सहायता ली हैं। उसका भाषा पर अत्यन्त अधिकार है। रसानुकूलता का निर्वाह करने के लिए कवि ने गौड़ी रीति को अपनाया है। उसने गम्भीर ध्वनिमूलक शब्दो को अपनाकर तथा समासान्त पदो का प्रयोग करके 'ओज गुण' की सृष्टि की है। ओज गुण और विकट वर्णत्व से वीर और रौद्र दोनो रस निखर उठते है। इसमें सन्देह नही। यद्यपि दृश्य काव्य की दृष्टि से कवि की यह कृत्रिम शैली अत्यन्त दोषपूर्ण है, क्योकि इस शैली से संवादो की स्वाभाविकता, प्रभावात्मकता, प्रवाहमयता और प्रसादात्मकता का ह्रास हो जाता है, तथापि रस-परिपाक की दृष्टि से वह काव्यत्व की साधक ही हुई है। नाटक मे वीर और रौद्ररस की व्यंजना के लिए सर्वत्र इसी गौड़ी शैली का प्रयोग हुआ है तथापि एक उदाहरण और प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नही किया जा सकता। देखिए :—

"अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसाभासमस्तिष्कपंके
मग्नानां स्पन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवास्तूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः" ॥१-२७॥

'परस्पर टकराने से विदीर्ण मस्तकवाले हाथियो के रुधिर, मॉस, मज्जा और मस्तिष्क आदि से जो कीचड़ हो रहा है, उसमे मग्न रथो पर पैर रखकर लड़नेवाले पदाति वीर जिस युद्ध मे है, तथा चमकीले रक्त को पानकर प्रसन्नता से शब्द करती हुई अमगल श्रृगालियो की ध्वनि रूपी तूर्य नाद पर जहॉ कबन्ध नृत्य कर रहे है, ऐसे सग्राम-रूपी महाप्रलय के जल मे विचरण करने मे पाण्डुपुत्र अत्यन्त कुशल है।'

वीररस और रौद्ररस के परिपाक के लिए विकट वर्णत्व और दीर्घ समासत्व का औचित्य स्वीकार किया गया है। इसी कारण मम्मट ने काव्यप्रकाश मे इस छन्द को रस प्रतिकूल वर्णना के दोष मे उदाहृत किया है :—

"देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः,
क्षत्रादेव तथाविध परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणायनिः क्रोधनः" ॥३-३३॥

'यह वही देश है, जहॉ परशुराम ने शत्रुओ के रक्त जल से तालाबो को पूर्ण कर दिया था। उसी प्रकार परशुराम के पिता के समान क्षत्रिय द्वारा मेरे पिता का केश ग्रहण से अपमान हुआ है। परशुराम के पास जैसे शत्रुओ को भक्षण करनेवाले जाज्वल्यमान अस्त्र थे, वैसे ही मेरे पास है। अतः क्रुद्ध परशुराम ने जो कार्य किया था, उसी कार्य को क्रोध से पूर्ण मै भी करने जा रहा हूँ।'

यद्यपि इस छन्द मे विकट वर्णता और समासत्व का वैसा प्रयोग नहीं है, जैसा नाटक मे अन्यत्र मिलता है, तथापि इससे रौद्र-रस की व्यंजना मे कोई बाधा नही पड़ती। चाहे शास्त्रीय दृष्टि से यह दोष भले ही हो, किन्तु इसमे कवि का कौशल ही प्रकट होता है। विकटवर्णत्व का प्रयोग करके रस-व्यंजना तो साधारण कवि भी कर सकता है।

दीर्घ समासता, कृत्रिमता के साथ साथ अलंकरण की प्रवृत्ति भी कवि मे मिलती है। उसने अनुप्रास और यमकादि शब्दालंकारो का प्रयोग

तो किया ही है। साथ ही अर्थालकारो की योजना भी अत्यन्त सुन्दर हुई है। कवि के सागरूपक कही-कही अत्यन्त सुन्दर बन पडे है। सस्कृत ही नही, प्राकृत मे भी कवि की अलंकारप्रियता और समासबद्धता देखी जा सकती है। युद्ध को वर्षा का रूप देते हुए कवि लिखता है :-

"दोह्णिा वि ताणं अण्णोण्णसिहणादगज्जिदपि सुणं विविहपरिमुक्कप्पहरणादकवअसगलिदजलणविज्जुल्लअं बहललुहिल बिन्दुखज्जो अभासुर गम्भीरत्थणि अचापजलहरप्पसरन्तसरधारासहस्स वरिसदुद्दंसणं जादं समरदुद्दिण।" 'उन दोनो का परस्पर सिहनाद ही जिसमे गर्जन है, नाना प्रकार से छोडे गये अस्त्र-शस्त्रो से ताडित लौहकवचो से निकलनेवाली अग्नि ही जिसमे चमकती हुई बिजली है, घन रुधिर के बिन्दुरूपी खद्योतो से जो देदीप्यमान हो रहा है, धनुष ही जिसमे गर्जते हुए मेघ है, छूटती हुई बाणो की सहस्रो धाराओ से जो देखने मे भयानक है, ऐसा युद्धरूपी दुर्दिन उपस्थित हो गया।'

वेणीसहार मे सस्कृत के अतिरिक्त कवि ने शौरसेनी तथा मागधी नामक प्राकृतो को भी अपनाया है। शौरसेनी का प्रयोग ही सर्वत्र है। उपर्युक्त उदाहरण शौरसेनी का ही है। केवल तृतीय अंक के विष्कम्भक मे राक्षस और राक्षसी का संवाद मागधी मे पाया जाता है। मि० ग्रिल महोदय इसमे 'श' के स्थान पर 'स' और कर्ता कारक मे 'ए' के स्थान पर 'ओ' तथा 'अं' का प्रयोग देखकर इसे अर्धमागधी मानते है। किन्तु डा० कीथ इसे मागधी ही कहते है, जैसा कि अन्य सभी विद्वानो का मत है। ग्रिल द्वारा निर्देशित परिवर्तन हस्तलिखित प्रतियो के लेखको का कार्य है, कवि का नही।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वेणीसंहार नाटक नाट्यकला की दृष्टि से उत्तम कोटि की रचना नही कही जा सकती। किन्तु उसमे काव्यात्मक सौन्दर्य और रसमयता का अभाव नही है। इसी कारण विद्वानो की दृष्टि मे उसका रचयिता भट्टनारायण सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

——

उत्तररामचरितम्

संस्कृत साहित्य के करुण-रस प्रधान नाटक उत्तररामचरितम् के प्रणेता भवभूति ने अपने वंश एवं जन्मस्थान के सम्बन्ध मे स्वतः ही लिख दिया है, जिसके अनुसार वे पद्मपुर के निवासी थे। कुछ विद्वान् पद्मपुर की स्थिति विदर्भ देश (आधुनिक बरार) मे मानते है और इनको महाराष्ट्र ब्राह्मण कहते है तथा कुछ पद्मपुर को मध्य-प्रान्त के चॉदा तथा बल्लारशा जिलो के दक्षिण मे कहीं मानकर इनको आन्ध्र ब्राह्मण कहते है। डा० भाण्डारकर उन्हे इसी स्थान का मानते है किन्तु उनके मतानुसार वे महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। ये कश्यप-गोत्री तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा के माननेवाले उदुम्बर कुल के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नीलकण्ठ और माता का नाम जतुकर्णी था। इनके पितामह भट्ट गोपाल महाकवि थे तथा इनके पूर्वज वाजपेय यज्ञ करनेवाले वेदज्ञ ब्राह्मण थे।

भवभूति का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ नीलकण्ठ उदुम्बर था। भवभूति तो उनका उपनाम था। 'भवभूति' कवि का नाम कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध मे दो किवदन्तियाँ है। एक के अनुसार किसी तत्कालीन राजा ने 'साम्बा पुनातु भवभूति पवित्रमूर्तिः' इस पद्य को सुनकर प्रसन्न होकर उन्हें 'भवभूति' की उपाधि से विभूषित किया और द्वितीय किवदन्ती यह है कि उन्होने देवी पार्वती की वन्दना करते हुए यह पद्य लिखा :—

'तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव।
गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ ॥'

इसमे 'भवभूति' शब्द के प्रयोग से चमत्कृत होकर सहृदय विद्वानो ने उन्हें 'भवभूति' की उपाधि प्रदान की और कवि इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। प्राचीन टीकाकार वीरराघव, डा० बेलवेलकर तथा डा० कीथ आदि विद्वानो के मतानुसार भी भवभूति इनकी उपाधि ही थी।

भवभूति केवल कवि ही नही थे, अपितु 'पदवाक्य प्रमाणज्ञ' भी थे अर्थात् व्याकरण-शास्त्र, मीमासाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र के पण्डित थे। यही नही, वे वेद, उपनिषद्, साख्य, योग इत्यादि मे निष्णात थे। जैसा कि उनकी कृतियो मे यत्र-तत्र पाये जानेवाले संकेतो से सिद्ध होता है। वे साहित्य-शास्त्र एवं तर्कशास्त्र मे भी अच्छी गति रखते थे। 'मालती-माधव' की किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति मे उसका प्रणेता उम्बेकाचार्य को माना गया है। उम्बेक मीमासाशास्त्र के प्रसिद्ध पण्डित कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। उन्होने कुमारिल भट्ट के ग्रंथ 'श्लोकवार्तिक' की टीका की है। इसके अतिरिक्त मण्डन मिश्र के मीमांसा-ग्रंथ 'भावनाविवेक' की टीका भी उम्बेक द्वारा लिखी गई थी। इन उम्बेकाचार्य के मतो का उल्लेख विभिन्न दर्शन ग्रंथो मे भी मिलता है। 'चित्सुखी' नामक ग्रंथ मे भी उम्बेक का नाम आया है, जिसके टीकाकार ने उम्बेक को भवभूति से अभिन्न माना है। 'मालतीमाधव' की प्राचीन हस्तलिखित प्रति एवं 'चित्सुखी' के आधार पर ही भवभूति और उम्बेकाचार्य को कतिपय विद्वान् एक ही मानते है। किन्तु अभी इस सम्बन्ध मे शोध की आवश्यकता है।

महाकवि भवभूति ने अपने किसी भी नाटक मे अपने आश्रयदाता का उल्लेख नही किया है। 'मालतीमाधव' के इस छन्द से यह आभास अवश्य मिलता है कि इनकी भारती का इनके जीवन-काल मे उचित सम्मान नही हुआ। सम्भवतः इसी कारण इनका हृदय वेदना का आगार बन गया और वे करुण-रस प्रधान नाटक लिखने मे सफल हुए। इस छन्द से कवि का स्वाभिमान, अपनी प्रतिभा मे अखंड विश्वास और अपने काव्य के प्रति गम्भीर निष्ठा प्रकट होती है। उन्हे विश्वास था कि उनकी कृतियाँ भविष्य मे अवश्य सम्मान प्राप्त करेगी। इस अनंत-काल और विपुल पृथ्वी मे जब उसके समानधर्मा सहृदय उत्पन्न होगे तभी उसकी कृतियो का मूल्य आँका जा सकेगा। कवि का यह विश्वास सत्य ही सिद्ध हुआ। आज नाटककारो मे उसकी गणना कालिदास के बाद ही होती है। उसका यह विश्वास इस प्रकार प्रकट हुआ है :—

"ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैप यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ मालतीमाधव" ॥१-६॥

इससे ज्ञात होता है कि कवि को कोई उत्तम आश्रयदाता प्राप्त नही हुआ। यदि हुआ भी होगा तो उसकी रचनाओ के अनन्तर उसके प्रसिद्ध होने पर। इसी से उसके काल के सम्बन्ध मे हमे बहिर्प्रमाणो पर आधारित होना पडना है।

काश्मीरी कवि कल्हण ने अपने ग्रथ 'राजतरंगिणी' मे कान्यकुब्जाधीश यशोवर्मा के सभापण्डितो का परिचय इस प्रकार दिया है :—

"कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥"

इससे भवभूति का यशोवर्मा के आश्रय मे होना प्रमाणित होता है। इन यशोवर्मा को काश्मीर के राजा मुक्तापीड ललितादित्य ने ७३६ ई० के लगभग हराया था। भवभूनि को इनका आश्रय अवश्य ही जीवन के अन्तिम दिनो मे मिला होगा। अतः इनका जन्म ७०० ई० के पूर्व ही मानना चाहिए। भवभूति के सम्बन्ध मे यशोवर्मा के आश्रित दूसरे कवि वाक्पतिराज ने अपने ग्रंथ 'गउडवहो' मे लिखते हुए उनके काव्य को समुद्र से निर्गत अमृत रस कण कहा है। इसी 'गउडवहो' मे एक सूर्यग्रहण का भी उल्लेख है जो डा० याकोबी के अनुसार १४ अगस्त ७३३ ई० मे पड़ा था। इससे भी सिद्ध होता है कि भवभूति इस समय से पूर्व ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होगे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के लगभग मानना ही समीचीन है।

भवभूति ने 'उत्तररामचरितम्' के अतिरिक्त 'मालतीमाधव' नामक प्रकरण तथा 'महावीरचरितम्' नामक नाटक की भी रचना की है।

हिंस्र पशुओ के मध्य मे छोड़ने के कारण आन्तरिक पीड़ा का अनुभव भी करते है। तभी उन्हे मथुरेश्वर के उत्पातो की सूचना मिलती है। वे उसके वध के लिए शत्रुघ्न को भेजने का विचार करके सीता को सोती हुई छोड़कर भूमि को उनकी रक्षा का भार देकर बाहर निकलते है। जागने पर सीता अपने को अकेली पाती है। तभी उन्हे लक्ष्मण द्वारा रथ सज्जित होने का समाचार मिलता है और वे वन-यात्रा के निमित्त चल देती है। यही प्रथम अंक समाप्त हो जाता है।

द्वितीय-अंक की कथा का सम्बन्ध बारह वर्ष बाद की घटनाओ से है। विषकम्भक मे वन-देवता और आत्रेयी के वार्तालाप द्वारा चार सूचनाएँ प्राप्त होती है। एक तो यह कि ऋषि वाल्मीकि के आश्रम मे कुश और लव नामक ऐसे मेधावी बालक विद्याध्ययन कर रहे है, जिनका पालन ऋषि ने स्तनत्याग की अवस्था से किया है और जिन्हे जन्म से ही जृम्भकास्त्र सिद्ध है। दूसरी यह कि क्रौञ्चमिथुन मे से व्याध द्वारा एक के मारे जाने पर ऋषि की व्याध के प्रति उच्चरित शापमयी वाणी मे काव्य का उदय हुआ और ब्रह्मा ने उन्हे रामायण की रचना का आदेश दिया। तीसरी यह कि राम ने सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा की स्थापना करके अश्वमेध यज्ञ का समारम्भ किया है और अश्व की रक्षा के निमित्त लक्ष्मणात्मज कुमार चन्द्रकेतु को नियुक्त किया है। चौथी यह कि शम्बूक नामक तपस्वी शूद्र का वध करने के लिए राम इसी वन मे आये हुए हैं। द्वितीय अक मे राम शूद्रक का वध करते है। वह दिव्य शरीर धारण कर लेता है और दण्डकारण्य की प्रकृति का वर्णन करता है। राम अगस्त्य ऋषि के आश्रम की ओर प्रस्थान करते हैं।

तृतीय अंक के विष्कम्भक मे तमसा और मुरला नामक सरिताओ के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि लक्ष्मण द्वारा त्यागे जाने के उपरान्त प्रसववेदना से दुखी सीता गंगा में कूद पड़ीं। वहीं उनके दो पुत्र हुए। गंगा और पृथ्वी ने उनकी रक्षा की। स्तनत्याग के बाद दोनो पुत्र बाल्मीकि को दे दिये गये और सीता पृथ्वी के साथ पाताल चली गईं।

अब सरयू के मुख से राम का पञ्चवटी आगमन सुनकर भगवती भागीरथी उन्हे पुत्रो की बारहवी वर्षगाँठ पर सूर्य की पूजा के निमित्त पुष्पचयन करने के लिए वही लाई है और उनको अपनी शक्ति से अदर्शनीय करके तमसा को उनकी देख-रेख का भार दे दिया है। तभी राम पञ्चवटी के जनस्थान मे प्रवेश करते है और वनदेवी वासन्ती उनका स्वागत करती है। छिपी हुई सीता राम की विरह के कारण कृशावस्था देखकर मूर्च्छित हो जाती है और तमसा उन्हे आश्वस्त करती है। राम पंचवटी के वन में घूमते हुए सीता द्वारा पालित गजशावक एवं मयूर को देखकर तथा वासन्ती द्वारा विभिन्न स्थानो को दिखाये जाने पर पूर्व स्मृति से सन्तप्त होकर तड़पने लगते है। उनका हृदय शतधा होकर आँसुओ के रूप मे परिवर्तित होकर प्रवाहित होने लगता है। उनकी उस करुण दशा को देखकर पाषाण भी द्रवित हो उठते है। वे असह्य वेदना के कारण मूर्च्छित हो जाते है। सीता अपने स्पर्श से उन्हे चेतनता प्रदान कराती है। जब वे सीता को अधिक याद करते है तो अवसर पाकर वासन्ती उन्हे उपालम्भ देती है, जिससे उनकी वेदना और भी बढ़ जाती है। वे पुनः मूर्च्छित हो जाते है। सीता अपने स्पर्श से पुनः उन्हे संज्ञा प्रदान कराती है। वासन्ती भी उनकी दशा देखकर रोने लगती है। पर्याप्त समय के बाद राम जाने लगते है। सीता उनके जाने पर मूर्च्छित हो जाती है। तब तमसा उन्हे संज्ञा प्रदान कराती है। राम के जाने के बाद अंक समाप्त होता है।

चतुर्थ अंक के विष्कम्भक से ज्ञात होता है कि ऋषिश्रृंग का यज्ञ समाप्त होने पर भी सीता-निर्वासन का समाचार जानकर सीता-विहीन नगर मे न जाकर कौसल्या अरुन्धती एवं वशिष्ठ के साथ वाल्मीकि के आश्रम मे आती हैं तथा राजा जनक भी सीता सम्बन्धी लोकापवाद से व्यथित होकर चन्द्रद्वीप तपोवन मे तपस्या करने के बाद वाल्मीकि के आश्रम मे आते है। इसीलिए उनके छात्रो का अनध्याय हो जाता है। चतुर्थ अंक में जनक एवं कौसल्या तथा अरुन्धती का मिलन होता है।

राजा जनक कौसल्या को देखकर उनकी पूर्व दशा का स्मरण करके व्यथित होते है और कौसल्या भी उनको देखकर सीता का स्मरण करके दुःखी होने लगती है। जनक को राम के प्रति क्षोभ भी होता है। तभी वटुओ के साथ खेलता हुआ वहाँ लव आ जाता है। जिसमे राम और सीता के स्वरूप की झाँकी पाकर जनक और कौसल्या उसके प्रति अत्यधिक स्नेहासिक्त हो जाते है और कंचुकी को भेजकर वाल्मीकि ऋषि से उसका परिचय जानना चाहते है। ऋषि समय पर ज्ञात होने की बात कहकर टाल देते है। तभी अश्वमेधयज्ञ के अश्व के रक्षक चन्द्रकेतु का स्वर सुनाई पड़ता है। लव चन्द्रकेतु का परिचय उनसे पूछता है और परिचय जानकर रामायण की कथा मे अपनी प्रवीणता प्रकट करता है। तभी अन्य वटुओ से अश्व के आने का समाचार जानकर लव वहाँ से चला जाता है और राम के सैनिको से दर्पमयी घोषणा सुनकर अश्व को पकड़ लेता है। यही अङ्क समाप्त होता है।

पञ्चम अंक मे चन्द्रकेतु एव लव का वीर दर्प से पूर्ण वाद-विवाद होता है। चन्द्रकेतु लव को सैनिको को न मारकर अपने से लड़ने के लिए ललकारता है। लव चन्द्रकेतु की सेना को जृम्भकास्त्रो से स्तम्भित करके उसकी चुनौती स्वीकार करता है। दोनो एक दूसरे के सौन्दर्य को देखकर मोहित होते है। लव को देखकर सुमन्त्र को उसके सीतापुत्र होने का संदेह होता है। किन्तु फिर वे निराश हो जाते है। दोनो एक दूसरे को मित्र मानते हुए भी लड़ने को प्रस्तुत होते है। चन्द्रकेतु राम के प्रताप का वर्णन करता है और लव उन पर व्यग्य करता है। इसी विवाद मे अङ्क समाप्त होता है।

षष्ठाक के विष्कम्भक मे विद्याधर एवं विद्याधरी के वार्तालाप द्वारा कुश एवं चन्द्रकेतु के भीषण युद्ध का वर्णन किया गया है। उस युद्ध मे वे आग्नेय, वारुण एवं वायव्यादि अस्त्रो का प्रयोग करते हैं। इसी विष्कम्भक से ज्ञात होता है कि शम्बूक को मारकर राम भी उसी ओर आ रहे है। पुष्पक विमान से उतरते ही

राम को चन्द्रकेतु प्रणाम करता है। और लव भी उनके रूप को देखकर युद्ध बन्द कर देता है। राम का परिचय पाकर लव भी उन्हे प्रणाम करता है। राम ने चन्द्रकेतु से लव की वीरता का समाचार जानकर उसे आलिगन किया और उसके रूप मे सीता की प्रतिकृति पाकर दुखी होते हुए भी उसके आलिङ्गन से सान्त्वना प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। तभी युद्ध का समाचार जानकर क्रुद्ध होते हुए कुश आते है। किन्तु लव राम का परिचय देकर इन्हे शान्त कर देते है। वे भी राम को प्रणाम करते है। राम दोनो के रूप को देखकर, उनमे राजचिह्नो को पहचानकर तथा जृम्भकास्त्रो की सिद्धि देखकर उनके सीतापुत्र होने की सम्भावना करते है। राम के अनुरोध से वे दोनो उन्हे रामायण के दो श्लोक गाकर सुनाते है, जिससे राम की वेदना बढ़ जाती है। उसी समय वहाँ पर जनक, वशिष्ट, अरुन्धती और कौसल्या के आने का समाचार मिलता है और अंक समाप्त होता है।

सप्तमाङ्क मे ऋषि वाल्मीकि गगा तीर पर रामायण नाटक की योजना करते है। राम की आज्ञा से लक्ष्मण उसका प्रबन्ध करते है। नाटक मे सीता-त्याग के बाद का दृश्य दिखाया जाता है। सीता के गंगा मे डूबने के समय के आर्तनाद को सुनकर राम मूर्च्छित हो जाते है। लक्ष्मण उन्हे नाटक की बात कहकर होश मे लाते है। इसके बाद पुत्रो की उत्पत्ति, पृथ्वी और गंगा का अवतरण, जृम्भकास्त्रो की स्वतःसिद्धि, सीता से पृथ्वी का पुत्रो को स्तनपान कराने तक रहने का अनुरोध आदि दृश्य दिखाये जाते है। तदनन्तर राम लोकान्तर मे सीता की प्राप्ति की कामना करके मूर्च्छित हो जाते है। लक्ष्मण वाल्मीकि से राम की रक्षा की प्रार्थना करते है। वाल्मीकि की आज्ञा से वाद्यादि बन्द कर दिये जाते है तथा गंगा और पृथ्वी के साथ सीता जल से नकलकर आती है। वाल्मीकि सीता को अरुन्धती को सौंप देते है। सीता अरुन्धती की आज्ञा से राम का स्पर्श करके उन्हें संज्ञा प्रदान कराती है। राम वशिष्ठ, अरुन्धती, माता, ऋषि शृंग आदि को देखकर लज्जित होते है। राम और सीना लव और

कुश को पाकर प्रसन्न होते है तथा वे भी अपने माता-पिता को पहचान-कर अपने भाग्य की सराहना करते हैं। तब अरुन्धती सीता के दिव्य एवं पावन चरित्र की प्रशंसा करके नागरिको की सम्मति जानना चाहती है। राम गुरुजनो की आज्ञा तथा नागरिको एवं देशवासियो की सम्मति से सीता को ग्रहण कर लेते है। आनन्द के इसी वातावरण मे नाटक समाप्त होता है।

यद्यपि उत्तररामचरित का उपजीव्य तो वाल्मीकि रामायण ही है, तथापि कवि ने उस कथानक में परिवर्तन करके न केवल अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है अपितु उसे नाट्यकला के अनुरूप भी बना दिया है। प्रथम अङ्क में चित्रशाला की योजना कवि की सहृदयता, भावुकता एवं कलात्मक निपुणता का उत्तम निदर्शन है। उसके द्वारा कवि ने सीता के विरह की तीव्रानुभूति के निमित्त सुन्दर पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है तथा भावी घटनाओ के बीजांकुरो का आभास दिया है। संयोग सुख की पराकाष्ठा एवं अनन्य प्रेम की व्यञ्जना द्वारा विरह के उत्ताप की तीव्रता का आभास दिया है। इसके अतिरिक्त पताकास्थानक या गंडकी की भी चमत्कारमयी योजना इसी अङ्क मे की गई है। चित्रदर्शन से परिश्रान्ता सीता के सो जाने पर राम सस्नेह कहते है :—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहु. कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः" ॥१-३८॥

'यह (सीता) घर मे लक्ष्मी है, नेत्रो मे अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर पर प्रचुर चन्दनरस है और यह भुजा गले मे शीतल एवं कोमल मौक्तिकहार है। इसका क्या प्रिय नही है? यदि कुछ अत्यन्त असह्य है तो विरह है।' राम के "परमसह्यस्तु विरहः" कहते ही प्रति-हारी आकर कहती है—"देव! उपस्थितः।" तभी राम भयचकित होकर पूछते हैं—"अयि कः?" इस पर वह उत्तर देती है—"आसन्नपरिचारको

देवस्य दुर्मुखः''—'महाराज का समीवर्ती सेवक दुर्मुख।' यहाँ 'विरहः' और 'उपस्थितः' के सम्बन्ध से पताकास्थानक की योजना करके भावी विरह की सूचना दी है।

द्वितीय अङ्क मे शम्बूक-वध की घटना ही प्रमुख है। उसके द्वारा कवि ने प्रकृति का सुन्दर वर्णन अवश्य कराया है किन्तु कथानक की गति मे शैथिल्य आ गया है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी व्यापारो के अभाव के कारण नाटकीय गतिशीलता मे व्याघात होने से यह अङ्क नाट्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही है। बाह्य घटनाओ एवं व्यापारो का अभाव तो तृतीय अङ्क मे भी है। किन्तु कवि ने छाया सीता की उपस्थिति करा के अपनी मौलिक मनीषा का परिचय दिया है। इस अङ्क मे कवि के हृदय की समस्त करुणा उद्वेलित होकर पाषाणो को भी द्रवित कर देती है। रस की अजस्र धारा के प्रवाह की दृष्टि से यह अङ्क नाटक का सर्वोत्तम अङ्क कहा जा सकता है। राम और सीता के अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण करते हुए कवि ने दोनो के निर्विकार प्रेमी हृदयो का वास्तविक अङ्कन किया है। राम के आँसू सीता की वेदना का ही प्रच्छालन नही करते अपितु राम के प्रति होनेवाले उनके क्षोभ को मिटाकर प्रेम की भव्यता को चमका देते है। सीता का अनुताप राम की करुण दशा को देखकर मिट जाता है और उनके हृदय मे श्रद्धा की भावना उमड़ने लगती है। इस अङ्क की नाटकीय कल्पना कवि के हृदय की द्रवणशीलता का परिचय देती है। वास्तव मे यही अङ्क नाटक का प्राण है।

चतुर्थ अङ्क मे घटनाओ के वैविध्य के मध्य कथानक को संतुलित रखता हुआ कवि उसे गति प्रदान करता है। यही वह जनक, कौसल्या, वशिष्ठ एवं अरुन्धती आदि को उपस्थित करके अश्वमेधाश्व का लव द्वारा हरण दिखाकर तीव्रता के साथ कथानक को समाप्ति की ओर ले जाता हुआ दृष्टिगत होता है। पंचम तथा षष्ठ अङ्क मे उत्साह की ओजमयी धारा के द्वारा वीरता का संचार कराते हुए राम की आकस्मिक उपस्थिति दिखाकर कवि कथानक को समेट लाता है। सप्तम अङ्क का गर्भाङ्क कवि

की कला की मौलिकता का एक और उदाहरण है। यहाँ कवि रामायण के दुःखान्त कथानक को सुखात बनाने का प्रयत्न करता है। नाटक की योजना द्वारा वह लव और कुश का प्रत्यभिज्ञान कराता है, एक अद्भुत नाटकीय वातावरण मे गंगा से सीता का निर्गमन दिखाकर तथा ऋषियो और नागरिक एव लोकजनो द्वारा उनकी पावनता को प्रमाणित कर राम से उनका मिलन दिखाता है। इस प्रकार कवि आरम्भ से ही कथानक को चामत्कारिक किन्तु स्वाभाविक मोड़ देता हुआ, उसकी गति मे काव्यजनित शैथिल्य और नाट्यजनित क्षिप्रता लाता हुआ आनन्द के वातावरण मे समाप्त करके सुखान्त बना देता है तथा नाटक की शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा करता है।

कवि की जिस भाव-प्रवणता ने उसको कालिदास के बाद स्थान दिलाया है, उसी के कारण उसकी गति मे शिथिलता आ गई है। व्यापार-प्रधान दृश्यो की अपेक्षा वर्णनात्मक दृश्यो की प्रचुरता के कारण मेक्डानल ने उत्तररामचरित को नाट्य-काव्य कहा है तथा डा० भोलाशंकर व्यास ने भी अपने ग्रन्थ संस्कृत कवि दर्शन मे कवि की भावुकता और नाटकीय व्यापारो की कमी के कारण इसे गीतिनाट्य (Lyric drama) कहा है। इसमे सन्देह नही कि 'उत्तररामचरित' मे भवभूति का कवि अधिक मुखर है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि उसने उनके नाटककार को प्रभावहीन बना दिया है। वास्तव मे 'उत्तररामचरित' मे भवभूति के कवि और नाटककार का सन्तुलित समन्वय हुआ है। जहाँ द्वितीय अंक के प्रकृति-वर्णन और तृतीय अंक के करुण चित्रण मे उसका कवि मुखर हो उठा है, वहाँ चित्रशाला-प्रसंग, छाया सीता—प्रच्छन्न सीता—की अवतारणा, गर्भाङ्क मे रामायण नाटक की योजना एवं विभिन्न अंको के विष्कम्भको के द्वारा भावी एवं विगत घटनाओ की सूचना देने इत्यादि के विधान मे उसके नाटककार की अपूर्व प्रतिभा एवं मनोमुग्धकारी कल्पना का परिचय मिलता है। कथानक के इसी वैशिष्ट्य के कारण किसी ने कहा है—"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।"

चरित्र-चित्रण—उत्तररामचरित मे कवि ने पात्रो का चित्रण भी कुशलता से किया है। तमसा, मुरला, भागीरथी, पृथ्वी तथा वनदेवता वासन्ती इत्यादि पात्राएँ प्रतीकात्मक है, जिनको मानवी रूप मे उपस्थित किया है। राम का प्रभाव ऐसा है कि विभिन्न सरिताएँ, पृथ्वी तथा वन-देवी तक शरीरधारिणी होकर किसी न किसी रूप मे उनकी तथा सीता की सेवा के लिए अवतरित होती है। इन पात्रो का तथा विद्याधर एवं विद्याधरी का महत्त्व केवल कथानक को गति देने के कारण है। सभी के हृदय मे सीता के प्रति करुणा एवं राम के प्रति निष्ठा है। इसके अति-रिक्त उनका व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली नही है। पुत्री-वत्सला वाणप्रस्थी जनक, वधू के निष्कासन से पीड़िता कौसल्या के विषादमय चित्र अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयद्रावक है। वशिष्ठ-पत्नी शान्तस्वभावा अरुन्धती एवं रामायण-प्रणेता, लवकुश-पालक, उदारमना वाल्मीकि के पावन स्वरूप की झाँकी मात्र ही कवि ने दिखाई है। उनका पूर्ण चरित्र अंकित करने की न तो आवश्यकता ही थी और न उसके लिए अवकाश।

भगवान् राम इस नाटक के नायक है। वे सूर्यवंश के रत्न है। उनमे धीरोदात्त नायक के गुण है। वे सद्यराज्याभिषिक्त राजा है, फिर भी उन्हे प्रजापालन एवं लोकानुरञ्जन का पूर्ण ध्यान है। वे राजा के कर्तव्य को भली भाँति समझते है। अष्टावक्र द्वारा वशिष्ठ का सन्देश पाकर वे स्पष्ट घोषणा करते है :—

"स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा" ॥१-११॥

'लोकानुरञ्जन के लिए प्रेम, दया, सुख अथवा जानकी को त्यागने में भी मुझे दुःख नही है।' और हम देखते है सीता के सम्बन्ध में लोका-पवाद सुनते ही उन्होने उन्हे तुरन्त त्याग दिया। पत्नी के प्रति जो स्वाभा-विक स्नेह होता है, उस पर उन्हाने ध्यान नही दिया, गर्भवती होते हुए भी उन्हें दया न आई तथा भावी सन्तति के सुख का मोह भी उन्हें अपने

कर्तव्य से विचलित नहीं कर सका। यद्यपि सीता-सम्बन्धी अपवाद उनके हृदय पर वज्राघात जैसा था, जिसे सुनते ही वे मूर्च्छित हो गये थे। किन्तु वेदना के इन क्षणो मे भी प्रजा के कष्टो को दूर करने के निमित्त तत्पर दिखाई पडते है। मथुरेश लवणासुर के उत्पात का समाचार सुनकर तुरन्त शत्रुघ्न को उसके वध के लिए आज्ञा प्रदान करते है। ब्राह्मण-पुत्र के असमय मे मरने का समाचार जानकर शम्बूक नामक तपस्वी शूद्र का वध करने के लिए वे निकल पड़ते है। आज के युग मे जब कि मानवमात्र समानाधिकार की माँग कर रहा है और जनता का विश्वास सामाजिक व्यवस्था के प्रति हटता जा रहा है, राम का यह कृत्य अनुचित प्रतीत हो सकता है। किन्तु यदि स्वधर्म का त्याग करके प्रत्येक व्यक्ति उच्छृङ्खलता धारण कर ले तो देश मे व्यवस्था कैसे रह सकती है ? समाज को संयत, संतुलित एवं व्यवस्थित रखने के निमित्त ही वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की गई थी। अतएव उसकी रक्षा अनिवार्य थी। इसी कारण राम का यह कृत्य उचित ही कहा जायगा और फिर भवभूति ने शम्बूक के शाप की बात कहकर तथा इस प्रकार उसका उद्धार कराकर आज के युग के मानव के लिए शंका का स्थान भी नहीं छोड़ा है।

राम के चरित्र की दूसरी विशेषता उनका सीता के प्रति अनन्य प्रेम है। सीता उनके घर की लक्ष्मी है, नेत्रो के लिए अमृताञ्जन है और उनका स्पर्श चन्दन रस के सदृश है। सीता के चरित्र की पावनता के प्रति उनका विश्वास अत्यन्त दृढ है। चित्र-दर्शन के समय वे कहते है :—

"उत्पत्तिपरिपतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।"

'जन्म से ही पवित्र (सीता) की पवित्रता के लिए (अग्नि आदि) अन्य पदार्थों की क्या आवश्यकता है ?' तब फिर उन्होने उन्हे त्याग क्यो दिया ? लोकानुरञ्जन के कारण। वे केवल पति ही नहीं, राजा भी है और राजा होने के कर्तव्य को वे अधिक महत्त्व देते है। वे कर्तव्य की वेदी पर प्रेम को बलिदान करते हुए अपने हृदय पर इस वज्राघात को सहन कर लेते है। वासन्ती के उपालम्भ देने पर भी वे यही कहते हैं और

गर्भाङ्क मे प्रदर्शित नाटक मे सीताजी की पावनता प्रमाणित हो जाने पर तथा उनके कारण पृथ्वी और गंगा के अपने को पवित्र मानने पर लक्ष्मण की यह उक्ति—"आर्य श्रूयताम्" सुनकर भी वे यही कहते है "लोकः शृणोतु।" इससे उनकी लोकरञ्जन की भावना प्रकट होती है।

सीता के प्रति उनका कितना प्रेम है? यह तो सीता के जाने के बाद उनकी दशा ही बता देती है। सीता-निष्कासन की आज्ञा जिन शब्दों मे—'एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति'—वे देते है, उनसे उनके हृदय की पीड़ा एवं राज्याधिकार के प्रति क्षोभ तथा आत्मग्लानि इत्यादि भावो की एक साथ व्यञ्जना हो जाती है। दण्डक वन मे पूर्व प्रसंगो का स्मरण करके तथा सीता का ध्यान करके वे बार-बार मूर्च्छित हो जाते है। उनकी दशा ऐसी हो जाती है:—

> दलति हृदयं शोकोद्वेगाद्द्विधा तु न भिद्यते,
> वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
> ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्-
> प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्" ॥३-३१॥

'शोक की व्याकुलता से हृदय विदीर्ण होता है किन्तु दो भागो मे विभक्त नही होता, शोक से विह्वल शरीर मोह धारण करता है, पर चेतनता नही छोड़ता, अन्तर्दाह शरीर को प्रज्वलित तो करता है, किन्तु भस्म नही करता, मर्म को विद्ध करनेवाला भाग्य प्रहार तो करता है, लेकिन जीवन को नष्ट नही करता है।' यह है सीता के वियोग मे उनकी करुणाजनक दशा। वे अश्वमेध यज्ञ करते समय भी सीता की स्वर्ण-प्रतिमा की स्थापना करके अपने हार्दिक प्रेम की व्यंजना करते है तथा संसार मे एकपत्नीव्रत के आदर्श की प्रतिष्ठा करते है। सीता के अति-रिक्त अन्य किसी स्त्री की ओर वे कभी आकर्षित नही होते है। परि-श्रान्ता सीता को सोने का अनुरोध करते हुए वे कहते है:—

> "आविवाहसमयाद्गृहे वने शैशवे तदनु यौवने पुनः।
> स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यथा रामबाहुरुपधानमेष ते" ॥१-३७॥

'विवाह के समय से लेकर शैशव मे घर मे उसके अनन्तर फिर यौवन में वन मे सोने का कारण, अन्य स्त्री से असेवित यह राम की भुजा तुम्हारा तकिया है।' ऐसी प्राणप्रिया एकमात्र हृदयेश्वरी सीता के परित्याग की वेदना कैसी मार्मिक है। राम को हर समय अपनी इस निष्ठुरता का शोक रहता है। शम्बूक-वध के समय भी वे अपने इस दुख की व्यञ्जना इन शब्दो में करते है :—

'रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?"

'तू पूर्ण गर्भभार से खिन्न सीता के निर्वासन मे पटु राम की भुजा है। इसलिए तुझे करुणा कहाँ होगी ?' उनका यह आन्तरिक क्षोभ सीता के प्रति उनके प्रेम को प्रकट करता है।

कर्त्तव्य-पालन के लिए कठोर होते हुए भी राम का हृदय नवनीत से भी कोमल है, यह हम उनके करुण विलाप द्वारा जान सकते है। उनके चरित्र में एक ऐसी मृदुता, कोमलता एवं नम्रता है, जिसके समक्ष उनकी कठोरता विस्मृत हो जाती है। चित्रदर्शन के प्रसंग मे परशुराम को देखकर लक्ष्मण को 'आर्ये, पश्य ! अयमार्येण' इतना कहते ही आगे कहने से रोक देते है और उन्हे आगे देखने का आदेश देते है। उनमे विनय की इतनी महत्ता है कि वे अपनी प्रशंसा और परशुराम का अपकर्ष सुनना नहीं चाहते। इसी प्रकार कैकेयी के कोप एवं वर-याचन के दृश्य को इसीलिए छोड़ जाते है, कि कही माता के प्रति दुर्भावना का उदय न हो जाय। राम की यह अविकत्थनता एवं मृदुता ही सामाजिक को श्रद्धा से विनत कर देती है। अंजनिपुत्र हनुमान् के चित्र को देखकर उनका हृदय कृतज्ञता की भावना से आपूरित हो जाता है। वे उनके उपकारो का स्मरण करके कहने लगते है :—

"दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः।
यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च" ॥१-३२॥

'सौभाग्य से ये अञ्जना के आनन्द को बढानेवाले वे हनुमान् हैं,

जिनके पराक्रम से हम तथा समस्त भुवन कृतार्थ हो गये है।' अपने परिजनो के प्रति इस प्रकार की उदार भावना राम के चरित्र की विशिष्टता है।

राम के हृदय में वात्सल्य प्रेम की भी अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। वे लक्ष्मण पुत्र चन्द्रकेतु के प्रति आत्मजवत् स्नेह रखते है। चन्द्रकेतु का आलिगन उनके मनस्ताप को शान्त कर देता है। वे उसका आलिगन करते हुए कहते है :—

"दिनकरकुलचन्द्र चन्द्रकेतो ! सरभसमेहि दृढं परिष्वजस्व।
तुहिनशकलशीतलैस्तवाङ्गै शममुपयातु ममापि चित्तदाहः" ॥६-८॥

'हे सूर्यवंश के चन्द्रमा चन्द्रकेतु ! शीघ्र आओ और दृढ़ आलिगन करो। हिमखंड के सदृश शीतल तुम्हारे अगो से मेरे मन का ताप भी शान्त हो जाये।' यही नही अपितु वे वाल्मीकि-शिष्य लव का भी उसी स्नेह से आलिगन करते है और उसका स्पर्श भी उन्हे चन्द्र तथा चन्दन द्रव के सदृश शीतल लगता है।

राम का प्रभाव भी अत्यन्त विस्मयकारक है। उनके रूप को देखकर लव के हृदय से रोष का भाव तुरन्त पलायन कर जाता है और उसमे नम्रता का आविर्भाव हो जाता है। अपनी इस दशा का वर्णन लव इन शब्दो मे करता है :—

"विरोधो विश्रान्तः, प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्य क्वापि व्रजति, विनय. प्रह्वयति माम्।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमिति परवानस्मि, यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः" ॥६-११॥

'विरोध शान्त हो गया, अतिशय सुख से गाढ अनुराग फैल रहा है। वह उद्धतता कही चली गई है और नम्रता मुझे झुका रही है। इनको देखने पर तुरन्त ही पराधीन हो गया हूँ। अथवा महान् तीर्थो के सदृश महान् पुरुषो का भी कोई मूल्यवान् उत्कर्ष होता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम का चरित्र महान् गुणों का भाण्डार

है। उनके चरित्र के सम्बन्ध मे वासन्ती का यह कथन कितना उपयुक्त है :—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ?" ॥२-७॥

'वज्र से भी कठोर और पुष्प से भी कोमल लोक श्रेष्ठ पुरुषो के चित्त को कौन जान सकता है ?' भवभूति अवश्य इस लोकोत्तर चरित्र के चित्रण मे सफल हुए है।

सीता इस नाटक की नायिका एवं राम की प्राणप्रिया सहधर्मिणी है। उनको यद्यपि लोकापवाद के कारण राम बहिष्कृत कर देते है तथापि उनके चरित्र के सम्बन्ध मे वे पूर्ण विश्वस्त है। सीता के चरित्र की पावनता वियोग को अग्नि मे तपकर एवं कष्टो को कसौटी पर कसकर और भी भव्य एवं उज्ज्वल हो जाती है। उनकी आत्मा की पावनता एवं चरित्र की निर्मलता के सम्बन्ध मे परित्याग करते समय विलाप करते हुए राम कहते है—"हे देवि देवयजनसभवे ! हा स्वजन्मानुग्रहपवित्रित-वसुन्धरे ! × × हा पावकवशिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि ! × × ×

"त्वया जगन्ति पुण्यानि त्वय्यपुण्या जनोक्तयः।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यते" ॥१ ४३॥

'हा देवयज्ञ से उत्पन्न होनेवाली देवी ! हा ! अपने जन्मरूप अनुग्रह से पृथ्वी को पवित्र करनेवाली ! × × × हा अग्नि, वशिष्ठ एवं अरुन्धती ! हे प्रशंसित शीलवाली ! × × × तुमसे संसार पवित्र है, परन्तु तुम्हारे सम्बन्ध मे मनुष्यो की उक्तियाँ अपवित्र हो रही है। तुमसे लोक सनाथ है और तुम अनाथ होकर विपत्ति उठाओगी।' और राजा जनक भी उनके चरित्र की महिमा का गान करते हुए पृथ्वी को निर्दय बताते हुए अपनी वेदना इस प्रकार व्यक्त करते है :—

"त्वं वह्निर्मुनयो वशिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु-
र्माहात्म्यं यदि वा रघोः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः।

विद्यां वागिव यामसूत भवता शुद्धिं गतायाः पुन-
स्तस्यास्त्वद् हितुस्तथा विशसनं कि दारुणे मृष्यथाः ?" ॥४-५॥

'हे कठोरहृदया पृथ्वी जिसकी महिमा तुम, अग्नि, ऋषिगण, वशिष्ठजाया अरुन्धती, गङ्गा, रघुवंश के कुलगुरु वशिष्ठ या स्वयं सूर्यदेव जानते है और जिस प्रकार विद्या को सरस्वती उत्पन्न करती है, उसी प्रकार जिसको तुमने उत्पन्न किया है और फिर जो अग्नि से शुद्ध हो चुकी है, उस अपनी पुत्री के प्रति इस प्रकार की हिसा को तुमने कैसे सहन किया ?'

सीता राम की पत्नी तथा जनक की आत्मजा है। अतः उनके चरित्र के सम्बन्ध मे उन दोनो की उक्ति को यदि पक्षपात माना जाय तो अरुन्धती की उक्ति एवं वेदना का भी अनुभव कीजिए :—

"अग्निरिति वत्सां प्रति लघून्यक्षराणि। सीतेत्येव पर्याप्तम्। हा वत्से !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा,
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां,
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" ॥४-११॥

'पुत्री (सीता) के प्रति 'अग्नि' ये अक्षर क्षुद्र हैं (अर्थात् सीता के सम्बन्ध मे अग्नि-शुद्धि की बात तुच्छता है) उसके लिए तो 'सीता' कहना ही पर्याप्त है (अर्थात् 'सीता' शब्द मे ही पवित्रता का भाव निहित है)। हा पुत्री ! तुम मेरी पुत्री हो या शिष्या हो, जो हो सो तो हो ही, किन्तु तुममे जो पवित्रता का उत्कर्ष है, वह मेरी भक्ति को दृढ करता है। तुम मे शिशुता हो या स्त्रीत्व, किन्तु तुम संसार की वन्दनीया हो। गुणियो मे गुण ही पूजा के स्थान होते है, लिग (पुरुष या स्त्री अथवा वेश-विशेष) या अवस्था नही।'

यही नहीं अपितु गंगा और पृथ्वी भी उन्ही के सम्पर्क से अपने को

पवित्र मानती है (आवयोरपि यत्संगात्पवित्रत्वं प्रकृष्यते) इससे सिद्ध होता है कि सीता का चरित्र कितना पावन है।

सीता के हृदय मे राम के प्रति अनन्य प्रेम है। यद्यपि त्याग के उपरान्त वे उन्हे 'आर्यपुत्र' न कहकर 'राजा' शब्द से सम्बोधित करके अपने क्षोभ को व्यक्त करती है। तथापि पञ्चवटी मे उनकी क्षीणावस्था को देखकर मूर्च्छित हो जाती है। राम को मूर्च्छित देखकर तुरन्त ही उनको अपने स्पर्श से सचेत करती है और जब राम की वेदना और उनके रुदन को देखती है तो उनका समस्त क्षोभ दूर हो जाता है। फिर तो वे वासन्ती को भी पूर्व स्मृति दिलाने के कारण कठोर कहने लगती है और उनको देखते रहने की अभिलाषा व्यक्त करती है। राम के द्वितीय बार मूर्च्छित होने पर तो वे बहुत समय तक राम का स्पर्श किये रहती है और राम उनका हाथ पकडे रहते है। बड़ी देर बाद सचेत होती है और अपना हाथ हटाती है। उस समय अचानक ही उनमे लज्जा का आविर्भाव होता है। अतः वे स्वयं ही सोचती है—"किमिति किलैषा मस्यते एष परित्याग एषोऽभिषङ्ग"। उन्हे राम के प्रेम का भी पूर्ण विश्वास हो जाता है। वे स्वयं कहती है कि—"अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममैषः"—'मै भी इनके हृदय को जानती हूँ और ये भी मेरे हृदय को जानते है।' राम की दशा देखकर और अश्वमेध मे अपनी स्वर्ण-प्रतिमा की स्थापना का समाचार जानकर उनकी वेदना दूर हो जाती है और वे सन्तोष के आँसू बहाती हुई कहती है—"उत्खातितमिदानी मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण।"—'आर्यपुत्र ने मेरे परित्याग के शल्य को उखाड़ दिया।' राम के वियोग में उनकी जो दशा हो जाती है, उससे ही उनके प्रेम का परिचय मिल जाता है। देखिए :—

"परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी" ।।३-४।।

'पीत एवं कृश कपोलो से सुन्दर चंचल केश-समूह से युक्त मुख को धारण करती हुई करुणा की मूर्ति अथवा शरीरधारिणी विरह-वेदना ही

जानकी के रूप में वन मे आ रही है।' उनके इसी प्रेम का यह प्रभाव है कि राम के लिए उनका स्पर्श जीवनदायक है। वे प्रकट होकर राम की आज्ञा भंग नहीं करतीं।

सीता का हृदय विशाल एवं उदार है। पशु, पक्षी और वृक्ष आदि के लिए भी उनके हृदय मे पूर्ण प्रेम है। राम के साथ वन-गमन के समय उन्होने गजशावक एवं मयूर आदि का पालन किया है तथा कदम्ब के वृक्ष का आरोपण किया है। जिन्हे देखकर अब उनमे वात्सल्य उमड़ आया है तथा उनके साथ ही वे अपने पुत्र लव और कुश का भी स्मरण करके व्यथित होने लगती है। उनकी स्मृतिमात्र से उनके पयोधरो से दुग्ध स्रवित होने लगता है और राम की उपस्थिति से उस समय वे अपने को उस वन मे भी संसारिणी समझने लगती है। पशु-पक्षियो के प्रति उनका यह प्रेम और प्रकृति के प्रति अनुराग चित्रदर्शन के समय भी व्यक्त होता है, जब कि वे पुनः वन मे जाने की कामना करती है।

सीता गम्भीरस्वभावा होने के साथ ही विनोदशीला भी है। चित्र-दर्शन के समय जब लक्ष्मण उनका, आर्या माण्डवी का और वधू श्रुति-कीर्ति का परिचय देकर उर्मिला को छोड़ जाते है तो सीता उर्मिला की ओर संकेत करके विनोद के साथ मीठी चुटकी लेती हैं—"वत्स इयमप्य-परा का ?"—'पुत्र, और यह दूसरी कौन है ?' इससे उनकी परिहास-प्रियता का पता चलता है।

इस प्रकार कवि ने सीता की आत्मिक पवित्रता, निश्छल प्रेम, अभूत-पूर्व सहनशीलता, दृढ़ता एवं मृदुता का कुशलता से चित्रण किया है।

'उत्तररामचरित' का तीसरा आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण चरित्र सीता-राम के पुत्र लव का है। लव के दर्शन हमे सर्वप्रथम वाल्मीकि ऋषि के योग्यतम, विनम्र, सुन्दर एवं सुशील शिष्य के रूप मे होते है। जहाँ वह जनक, कौसल्या, अरुन्धती इत्यादि अपरिचित गुरुजनो को नम्रतापूर्वक अभिवादन करके अपनी शिष्टता का परिचय देता है। अन्तर के सदृश लव का बाह्य स्वरूप भी मोहक है जो सभी को विमोहित कर लेता है।

उसके रूप मे सीता और राम की छवि समन्वित होकर अंकित हो गई है। लव मे हम वाक्पटुता तथा गुरुजनो के प्रति सम्मान की भावना भी पाते है। वह अपने गुरु एवं ज्येष्ठ भ्राता कुश का परिचय आदरास्पद विशेषणो के साथ देता है। रामायण मे अपनी दक्षता व्यक्त करके जनकादि को विमुग्ध कर लेता है। जृम्भकास्त्र तो उसे स्वतःसिद्ध है ही, इसके अतिरिक्त उसे पशुज्ञान-शास्त्र एवं युद्धकला मे भी नैपुण्य प्राप्त है जिसका परिचय अश्वमेधाश्व को देखकर देता है। लव मे वीर क्षत्रिय बालक के अनुरूप स्वाभिमान एवं उत्साह भी है। अश्वमेधाश्व के रक्षक सैनिको की घोषणा को वह सहन नही कर पाता। वह उसे एक वीर की चुनौती मानता है और यह कहकर घोडे को पकड़ लेता है :—

"यदि नो सन्ति सन्त्येव केयमद्य विभीषिका !
किमुक्तैरेभिरधुना तां पताकां हरामि वः ॥"

'क्या (वीर क्षत्रिय) नही है ? अर्थात् है ही। फिर आज यह भय किसलिए दिखा रहे हो ? इन उक्तियो से क्या ? तुम लोगो की उस विजय-पताका (अश्व) का हरण करता हूँ।' लव की वीरता का परिचय हमे सैनिको से युद्ध करते समय मिलता है। उसकी रण कला एव अनेक सैनिको से अकेले युद्ध करते हुए देखकर कुमार चन्द्रकेतु भी लज्जित हो जाते है। उसके युद्ध की भीषणता का चित्र देखिए :—

"आगर्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वर-
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमज्जृम्भयन्।
वेल्लद्भैरवरुण्डखण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवं,
तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव" ॥५-६॥

'यह वीर (लव) अत्यधिक दुन्दुभि के शब्दो से बढे हुए तथा पर्वतीय कुजो मे गर्जना करनेवाले गजो के समूह के कानो को पीड़ित करनेवाले मौर्वी के शब्द को उत्पन्न करता हुआ, लुढ़कते हुए भयंकर रुण्ड खण्डो के

समूहो से पृथ्वी को, पिपासित मृत्यु के भयंकर मुख से भुक्तावशिष्ट पदार्थों से आच्छादित-सा कर रहा है।'

चन्द्रकेतु को देखकर रक्त-सम्बन्ध के कारण लव के हृदय मे स्नेह का संचरण अवश्य होता है किन्तु क्षत्रिय के कर्तव्य से विमुख नहीं होता। चन्द्रकेतु के मैत्री-प्रस्ताव को स्वीकार करके उसके अकेले लड़ने की चुनौती को सुनकर वह सैनिको को जृम्भकास्त्र से जड़वत् बनाकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। राम के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए तथा उनके प्रताप को स्वीकार करते हुए भी वह यह मानने के लिए प्रस्तुत नही कि वीरता किसी एक का ही व्यक्तिगत अधिकार है। उसकी दृष्टि मे सभी क्षत्रिय वीर होते है। इसीलिए वह निर्भयता के साथ कहता है— "कि व्यवस्थितविषयः क्षत्रधर्मः ?"—'क्या क्षत्रियधर्म (वीरतादि) व्यवस्थित विषय (पुरुष-विशेष मे ही रहनेवाला) है ?' बाद मे हम लव के क्षत्रिय धर्म (वीरता) का दर्शन चन्द्रकेतु के साथ होनेवाले युद्ध में करते हैं।

राम को देखकर आत्मिक सम्बन्ध एवं उनकी शीलता के कारण लव मे नम्रता का आविर्भाव हो जाता है। उनकी युद्ध-निषेध की आज्ञा को वह चन्द्रकेतु के समान ही मानकर उनको उसी की भाँति प्रणाम करता है। लव की यह विनम्रता कायरता की द्योतिका नही है अपितु उसके चरित्र का उत्कर्ष ही व्यक्त करती है। वीरता का आभूषण विनय है और उसकी स्थिति लव मे है।

भवभूति की तूलिका लव के ओजस्वी, दर्पपूर्ण, साहसपूर्ण एवं शिष्टतापूर्ण व्यक्तित्व का अंकन करने मे पूर्णतया समर्थ हुई है।

लव की भाँति उसके अग्रज का चरित्र भी आकर्षक है। उसमें भी ज्ञान की गरिमा और वीरता की स्फूर्ति है। लघु भ्राता के साथ राम की सेना के युद्ध का समाचार जानकर उसका रोष भी उमड़ पड़ता है और वह संसार से 'राजा' शब्द को मिटाने के लिए तत्पर हो जाता है। कुश

के वीरतामय रूप की एक झाँकी देना ही पर्याप्त है। राम उसे आते देखकर कहते है :—

"दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमित्युत दर्प एव" ॥६-१६॥

'इसकी (कुश की) दृष्टि तीनो लोकों की वीरता के सार को तृणवत् कर रही है तथा गम्भीरता एवं दर्प से युक्त गति पृथ्वी को नमित-सी कर रही है। कुमारावस्था मे भी पर्वत के समान गुरुता को धारण करता हुआ क्या यह वीररस अथवा अभिमान ही आ रहा है।'

लक्ष्मण कुमार चन्द्रकेतु के चरित्र-चित्रण मे भी कवि ने अपनी लेखनी के कौशल का प्रदर्शन किया है। चन्द्रकेतु भी वीर, साहसी तथा रणदक्ष युवक है। लव के साथ अपनी विपुल सेना को लड़ते तथा हताहत होते देखकर उसका हृदय ग्लानि से भर जाता है। वह अपने को तथा अपनी सेना को धिक्कारता है। फिर बडे कौशल से लव के साथ मैत्री का प्रस्ताव करके अकेला लड़ने के लिए प्रचारित करता है। युद्ध के नियमो का वह सर्वथा पालन करता है। वह रथी होकर विरथी लव के साथ युद्ध नही करना चाहता। क्योकि 'न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्ती।' इसीलिए वह उससे भी रथारूढ होने का अनुरोध करता है। जब लव रथ पर आरूढ होना स्वीकार नहीं करता तो स्वयं ही वह पदाति होकर लड़ने लगता है। उसके युद्ध-कौशल का परिचय संग्रामभूमि मे लव के शस्त्रो को काटने के द्वारा मिलता है। चन्द्रकेतु के हृदय मे गुरुजनो—सुमन्त्र, राम आदि—के प्रति भी श्रद्धा एवं सम्मान की भावना है। अपने वंश के सम्मान की भावना तथा नियम और सदाचार का पालन करते हुए भी एक वेदना का अंकुर उसके हृदय मे है और वह है राम की सन्तानहीनता का दुख। सुमन्त्र द्वारा दशरथ के कुल की प्रतिष्ठा की बात सुनकर वह अपनी व्यथा को इन शब्दो मे व्यक्त करता है :—

"अप्रतिष्ठे कुलज्येष्ठे का प्रतिष्ठा कुलस्य नः ।
इति दुःखेन तप्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे" ॥५-२५॥

'कुल मे ज्येष्ठ (राम) के अतिष्ठित (सन्तानहीन) होने पर हमारे कुल की क्या प्रतिष्ठा है ? इस दुःख से हमारे तीनो पिता (लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न) ताप का अनुभव करते है। यही ताप चन्द्रकेतु को भी है।

इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पात्र प्रमुख नही है। भवभूति ने पात्रो के चरित्रो का अंकन बड़ी सफलता से किया है।

रस-परिपाक—'उत्तररामचरित' करुण रस-प्रधान नाटक है। कतिपय विद्वान् इसका अंगीरस विप्रलम्भ मानते है। किन्तु उनका यह मत सर्वथा निराधार है। अन्त मे सीता और राम का मिलन होते हुए भी विप्रलम्भ शृंगार को प्रधान रस नही माना जा सकता। क्योकि यह मिलन आकस्मिक एव अप्रत्याशित रूप से ही हुआ है। राम को तो यह विश्वास है कि :—

"त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुटितगर्भभरालसायाः ।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता" ॥३-२८॥

'एक वर्ष के भयभीत मृग के समान चंचल नेत्रोवाली, कम्पित गर्भ-भार से आलस्ययुक्त उस (सीता) का कोमल बाल-मृणाल के समान, चन्द्रिका निर्मित की भाँति तथा लता के समान कृश शरीर हिंस्र जन्तुओ द्वारा निश्चित रूप से नष्ट कर दिया गया होगा।' इसी कारण यह वियोग चुपचाप सहने योग्य तथा निरवधि है। (कटुस्तूष्णी सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः)। अतः इसे विप्रलम्भ शृंगार न मानकर करुण रस मानना ही अधिक समीचीन है।

स्वयं कवि भी करुण रस को ही प्राधान्य देता है। करुण रस के संबंध

मे कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। वह करुण रस के गम्भीर, मार्मिक एवं हृदयावर्जक प्रभाव का अनुभव करता हुआ सभी रसो का समावेश उसी मे करके उन्हे केवल प्रकारान्तर ही कहता है। उसके मत से :—

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्" ॥३-४७॥

'एक करुण रस ही निमित्त भेद से भिन्न होता हुआ भिन्न-भिन्न परिणामो (शृंगार, वीर आदि) को धारण करता है, ऐसा ज्ञात होता है; जैसे एक ही जल भँवर, बुद्बुद और लहर रूप अनेको विकारो (रूपो) को धारण करता है, किन्तु वास्तव मे वह जल ही है।'

इस नाटक मे भवभूति की भारती वास्तव मे द्रवित होकर ऐसी बही है कि पाषाण भी पिघल जाते है और सामाजिक मार्मिक पीड़ा का अनुभव करता हुआ अविरल अश्रु-वर्षा करने लगता है। नाटक के प्रथम अंक का चित्र-दर्शन, हास-परिहास और सीता का राम के वक्ष पर शयन आदि के दृश्य करुणा की पृष्ठभूमि को गम्भीरता प्रदान करते है। मधु के बहते हुए स्रोत का विष मे परिणत हो जाना, हर्षोल्लास का चरम सीमा पर पहुँचकर असह्य वेदना मे परिवर्तित हो जाना करुणा की कैसी मार्मिक भूमिका है। राम अपवाद के समाचार मात्र से मूर्च्छित हो जाते है और वह उनकी मूर्च्छा चेतन होने पर भी बनी रहती है।

द्वितीय अङ्क मे जब वे शम्बूक-वध के निमित्त दण्डकारण्य मे प्रवेश करते है तो वहाँ की एक-एक लता, एक-एक वृक्ष और गोदावरी के जल का कण-कण उनके हृदय पर घनाघात-सा करता है तथा पूर्व स्मृति को जाग्रत करके उनके हृदय को व्यथा से भर देता है। उनकी व्याकुलता का अवलोकन कीजिए :—

"चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।

व्रणो रूढग्रन्थि स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव ॥२-२६॥

'अत्यन्त तीव्र, बहुत समय बाद वेग से आरम्भ होनेवाला तथा फैले हुए विषरस के समान, कही से अत्यन्त वेग से छोडे गये बाणाग्र के टुकडे की भाँति, उपव्रणवाले तथा हृदय के मर्मस्थल मे फूटे हुए फोड़े की भाँति यह प्राचीन शोक नवीन के समान मुझे विकल कर रहा है।'

करुण रस का अगाध सागर तो तृतीय अङ्क मे उमड़ता दृष्टिगत होता है। वासन्ती के साथ दण्डकारण्य के विभिन्न दृश्यो को देखकर राम की वेदना जिस प्रकार उमड़ती है और रुदन करते हुए उनकी जो दशा हो जाती है उसकी अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं गम्भीर व्यञ्जना करके भवभूति ने मानो अपनी वाणी को करुणा की मूर्ति बना दिया है। वे सीता का स्मरण करके बार-बार संज्ञा खो देते है तथा अत्यन्त हृदयद्रावक शब्दो मे विलाप करते है :—

"हा हा देवि ! स्फुटितहृदयं, ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोह. स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ?" ॥३-३०॥

'हाय देवि ! (तुम्हारे बिना) मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है, शरीर का सन्धिबन्धन शिथिल पड़ रहा है, संसार को शून्य समझ रहा हूँ, अविच्छिन्न अन्तर्ज्वाला से निरन्तर जल रहा हूँ, प्रिया के बिना मेरी दुःखित अन्तरात्मा अवसन्न होकर प्रगाढ अन्धकार मे डूब रही है, मूर्च्छा मुझे चारों ओर से घेर रही है। अब मै मन्द भाग्य क्या करूँ ?" राम के इस विलाप को सुनकर किसका हृदय न रो पडेगा ? भवभूति गहरे शोक की व्यंजना के लिए अल्प शब्दावली का प्रयोग उपयुक्त नही समझते। इसी से उन्होने उसको अत्यधिक विस्तार दिया है। हृदय की पीड़ा जब प्रवाहित होकर बहने लगी तो वह थोड़े मे नही समा सकती, वह तो फैलने लगती है तथा जब तक वह सभी के हृदयो मे समाकर

उन्हे भी द्रवित नही कर देती तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। इसीलिए उन्होने उसे विस्तार दिया है और राम को जी भरकर रुलाया है। क्योकि रोने से भी हृदय हलका हो जाता है और एक सान्त्वना-सी प्राप्त होती है। जैसा कि तमसा के मुख से कवि ने कहलवाया है :—

"पूरोत्पीडे तडाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते" ॥३-२६॥

'तालाब के प्रवाह के आधिक्य की प्रतिक्रिया जल का बाहर निकलना ही है। इसी भाँति शोकजनित क्षोभ मे हृदय रुदन से ही रक्षित होता है।' तभी हमे राम अनेको बार रुदन करते हुए दिखाई पड़ते है।

षष्ठाङ्क मे लव और कुश को देखकर राम के हृदय मे वात्सल्य अवश्य उमड़ आता है, किन्तु उनके रूप मे सीता की झलक पाकर फिर स्मृति आ जाती है और सीता-सम्बन्धी रामायण के श्लोक सुनकर तो उनकी वेदना पुनः उमड़ पड़ती है। वे अपनी निराशा को व्यक्त करते हुए जिन कातर शब्दो मे अपनी व्यथा की व्यंजना करते है वे शल्य की भाँति हृदय मे चुभ जाते है :—

"चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः,
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव" ॥६-३८॥

'प्रिय के प्रवास-काल मे बहुत समय तक निरन्तर ध्यान करते-करते कल्पना द्वारा सामने ही उपस्थित हुए की भाँति होकर प्रिय जन क्या सान्त्वना प्रदान नही करता है अर्थात् अवश्य करता है। किन्तु प्रियतमा के मरने पर संसार वृक्षादिरहित सुनसान पुराना वन जैसा हो जाता है और तदनन्तर तुषानल (भूसे की अग्नि) की राशि मे हृदय धीरे-धीरे जैसे दग्ध होने लगता है।' करुणा की कैसी मार्मिक व्यंजना है। सप्तम अङ्क में भी वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत नाटक को देखकर राम मूर्च्छित हो

जाते है। उस समय करुणा की चरम सीमा पर पहुँचाकर सुखद मिलन दिखाया गया है।

भवभूति ने सीता के विरह मे राम को इतना अधिक रुलाया है, फिर भी उसमे कही भी अनर्गलता एवं मर्यादाहीनता नही है और न वह अस्वाभाविक ही हुआ है। कवि कल्पना की उड़ान भरकर कही भी अतिरेक को प्राप्त नही हुआ है अपितु सर्वत्र एक मार्मिक गम्भीरता और स्वाभाविक द्रवणशीलता ही दिखाई पड़ती है। राम की अन्तर्गूढ़ घनी व्यथा गम्भीरता के कारण उस करुण रस की सृष्टि करती है जो जो पुटपाक के समान ऊपर से पंकलिप्त होने के कारण अत्यन्त शान्त किन्तु भीतर ही भीतर तीव्र ताप से जलती रहती है :—

"अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः" ॥

'उत्तररामचरित' में केवल राम की करुणा की ही व्यञ्जना नही हुई है अपितु चतुर्थ अङ्क मे ज्ञानी एवं वीतरागी जनक, रामजननी कौसल्या तथा पञ्चम अङ्क मे मन्त्रिप्रवर सुमन्त के हृदय की करुणा को भी अभिव्यञ्जित किया गया है। इनकी करुणा का उद्दीपक लव है जो अपनी आकृति से सीता का स्मरण दिलाकर उन्हे वेदनाभिभूत कर देता है। राजा जनक की वेदना करुण वात्सल्य की कोटि मे आयेगी। वे सीता के शैशव का स्मरण करते हुए किस प्रकार हृदयभेदी विलाप करते है :—

"अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्।
वदनकमलकं शिशोः स्मरामि स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं ते" ॥४-४॥

'अकारण ही रोने और हँसनेवाले, कलियो के अग्रभागों के समान कुछ दाँतो से सुशोभित, अस्फुट अक्षरोवाले, असम्बद्ध और सुन्दर वचनो से युक्त तुम्हारे कमल के समान मुख की याद करता हूँ।'

करुणा की इसी तीव्रता एवं मार्मिकता के कारण गोवर्द्धनाचार्य ने उनके सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है :—

"भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा" ।।

'उत्तररामचरित' मे दूसरा स्थान शृंगार रस का है। कवि ने अपने शृंगार-वर्णन मे जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह अत्यन्त गम्भीर, विशुद्ध, वासनाहीन एवं भव्य है। उस प्रेम मे दुग्ध जैसी धवलता, चन्द्रिका सी उज्ज्वलता, मधु जैसी मधुरता तथा गंगा-जल जैसी निर्मलता है। वह प्रेम बाह्य आधारो पर आश्रित नही है, अन्तर की किसी प्रेरणा का परिणाम है। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही कमल विकसित हो जाता है तथा चन्द्रमा के निकलते ही चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, उसी प्रकार दो हृदयो का सम्मिलन प्रेम को स्वतः ही जन्म दे देता है :—

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः सश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः" ।।६-१२।।

इसीलिए यह प्रेम अनिर्वचनीय होता है। प्रेम के इस गूढ़ रहस्य की व्यंजना असम्भव है। केवल प्रेमी हृदय ही उसे जान सकते है—(हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोग परस्परम्) यही प्रेम दाम्पत्य जीवन का सार है। जिसमे आजीवन समरसता रहती है और सुख-दुःख दोनो दशाओ मे जो समान रहता है। कवि इसी दाम्पत्य प्रेम का गायक है। उसने इसी दाम्पत्य प्रेम की प्रतिष्ठा राम के मुख से कराई है :—

"अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते" ।।१-३६।।

'जो सुख और दुख मे सदा एकरस रहता है और सभी अवस्थाओ मे उसी प्रवाह मे अनुगत रहता है और जिसमें हृदय को अपूर्व शान्ति

मिलती है। जिसमे प्रेम अवस्था परिणति के साथ ही परिवर्तित नहीं होता, जो कि विवाह के समय से मरणपर्यन्त उत्कृष्ट और परिपक्व प्रेम मे अवस्थित है। उस दाम्पत्य का वह एक कल्याण बडे पुण्य से प्राप्त होता है।'

इस पवित्र, उदात्त, निस्वार्थ एवं एकरस प्रेम से पूर्ण दाम्पत्य की चरम परिणति सन्तान प्राप्ति मे होती है। जिस सन्तान को 'कामायनीकार' 'प्रेम बाँटने का प्रकार' मानता है, उसे भवभूति पति एव पत्नी के अन्तः-करण तत्त्व की प्रेम से आश्रित सुख की गाँठ कहता है :—

"अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते" ॥३-१७॥

वास्तव मे जिन्हे जननी और जनक होने का गौरव प्राप्त है वे ही सन्तान-सुख की अनुभूति कर सकते है और वे ही जान सकते है कि भव-भूति का अनुभव कितना सत्य है।

प्रेम के इस उदात्त स्वरूप का चित्रण करते हुए भवभूति ने शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनो ही पक्षो का सरस चित्रण किया है। प्रथम अङ्क मे संयोग शृंगार की सरस धारा प्रवाहित हो रही है। सीता राम के वक्ष पर सिर रखकर सुख से शयन करती है और राम उनके स्पर्श की प्रशंसा करके अपने प्रेम की व्यंजना करते है। चित्र-दर्शन के समय संयोग के क्षणो की यह स्मृति कितनी मधुर है :—

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्" ॥१-२७॥

'अत्यधिक प्रेम के आवेग से परस्पर अपने कपोलो को सटाकर, एक दूसरे की भुजाओ से गाढ आलिंगनबद्ध होकर न जाने क्या-क्या धीरे-धीरे बिना क्रम के बाते करते हुए रात बीत जाती थी और प्रहरो के बीतने का पता भी न चलता था।'

वियोग श्रृंगार का चित्रण भी कवि ने उसी परम्परा मे किया है। चित्रदर्शन के समय ही वियोगावस्था का अंकन लक्ष्मण के द्वारा कवि ने इस प्रकार कराया है :—

"अयं तावद्बाष्पत्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन्धाराभिलुंठति धरणी जर्जरकण. ।
विरुद्धोप्यावेग: स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति चिरमाध्मातहृदय:" ॥१-२६॥

'धाराओ के रूप मे फैलते हुए और चूर्ण-चूर्ण बिन्दुओ से युक्त आपके ये आँसू टूटी हुई मुक्तामाला के समान पृथ्वी पर गिरते है। हृदय को बहुत समय तक पूर्ण करनेवाला आवेग रोके जाने पर भी दूसरो से अनुमेय होता है।'

भवभूति की लेखनी केवल करुणा की धारा बहाने एवं श्रृंगार की सरसता दिखाने मे ही पटु नही है अपितु उसमे उत्साह की व्यञ्जना करने की भी अपूर्व शक्ति है। कोमल भावनाओ के साथ परुष भावनाओ का समान रूप से चित्रण करके भवभूति की कला ही गौरवान्वित हुई है। उन्होने वीरो की त्वेषमयी गर्जना, शस्त्रो की झंकार, बाणों की सनसनाहट एवं स्यन्दनो की झनझनाहट आदि का सजीव वर्णन करके युद्ध का चित्र सा उपस्थित कर दिया है। संग्राम का एक स्वाभाविक दृश्य देखिए :—

"झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीक धनु-
र्ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलम् ।
वितत्य किरतो: शरानविरतं पुन: शूरयो-
र्विचित्रमभिवर्तते भुवनभीममायोधनम्" ॥६-१॥

'झनझन' शब्द करनेवाले कंकण की भाँति बजनेवाली किङ्किणियो से युक्त, भारी मौर्वी को शब्दायमान करनेवाले तथा अग्रभाग से भयंकर कोलाहल करनेवाले धनुष को फैलाकर निरन्तर बाणो को छोड़नेवाले वीरो (चन्द्रकेतु एवं लव) का यह विचित्र तथा संसार मे भयङ्कर सग्राम

हो रहा है।' इस वर्णन को पढकर ऐसा प्रतीत होता है मानो नेत्रो के समक्ष ही युद्ध हो रहा हो। यही भवभूति की कला का वैशिष्ट्य है। रौद्र रस की व्यञ्जना कवि ने कुश के क्रोध तथा धनुषास्फलन के वर्णन द्वारा कराई है। वहाँ कुश आश्रय, चन्द्रकेतु और उसकी सेना आलम्बन, लव का अकेले युद्ध करना उद्दीपन, कुश का धनुषास्फलन तथा गर्वोक्ति अनुभाव है। इस प्रकार रौद्र रस का भली भाँति परिपाक हो जाता है।

नाटक का वातावरण आदि से अन्त तक गम्भीर रहा है। कवि ने इसमे उदात्त, पवित्र एवं गम्भीर दाम्पत्य प्रेम का चित्रण किया है। इसलिए विदूषक को स्थान नही दिया है तथा संस्कृत के अन्य नाटको की भाँति परिपाटी के रूप मे हास्य की योजना नही की है। फिर भी अपनी सरस प्रकृति का परिचय शिष्ट एवं सुन्दर परिहास वर्णन के द्वारा दिया है। सीता चित्रदर्शन के समय उर्मिला के चित्र को लक्ष्य करके किस प्रकार मधुर चुटकी लेती है। इसका उल्लेख किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित पद्य मे वाल्मीकि आश्रम के वटुओ की सरलता एवं भोलेपन के द्वारा सामाजिको के लिए हास्य का सुन्दर उपादान प्रस्तुत किया गया है। वटु घोडे का परिचय देते हुए कहते है :—

> "पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं, तच्च धूनोत्यजस्रं,
> दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव।
> शष्पाण्यत्ति, प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
> किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः" ॥४-२६॥

'वह पीछे बड़ी पूँछ धारण करता है और उसे निरन्तर हिलाता रहता है, उसकी गर्दन लम्बी है और उसके चार खुर है। वह घास खाता है तथा आम के फलो के बराबर लीद के टुकड़े छोड़ता है। अधिक कहने की क्या आवश्यकता? आओ आओ वह फिर दूर जा रहा है। चलें (देखे)।' इसी भाँति कवि ने चतुर्थ अंक मे दाण्डायन और सौधातिक की

बातच ीत मे विनोद का पुट दिया है। कवि का हास्य सर्वत्र शिष्ट, संयत एवं परिष्कृत है। वह हृदय मे एक मधुर गुदगुदी-सी उत्पन्न करके मुग्ध कर देता है। यह हास्य स्मित हास्य की कोटि मे आयेगा। मर्यादा के बाँध को तोड़कर वह नही बहता।

इस प्रकार हम देखते है कि भवभूति एक रससिद्ध कवि है और उनमे ऐसी भावुकता है तथा महान् प्रतिभा है कि वे प्रत्येक रस का सफलता के साथ परिपाक करने मे समर्थ है। कवि ने 'उत्तररामचरित' मे केवल रसो की ही व्यञ्जना नही की है अपितु भावो का भी मनोरम और प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। किसी अवसर विशेष पर मानव हृदय मे किस प्रकार विभिन्न भावो का प्रादुर्भाव होता है और उसका हृदय उन भावो की संकुलता से किस प्रकार विचित्रावस्था धारण कर लेता है, इसका भवभूति को पूर्ण अनुभव है। राम के मधुर वचनो के श्रवण-पुटो मे पड़ते ही सीता की जो विचित्र दशा हो जाती है, उसका वर्णन कवि ने कितनी सुन्दरता से किया है :—

"तटस्थं नैराश्यादपि च कलुप विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्न सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव" ॥३-१३॥

तमसा कहती है 'तुम्हारा हृदय, इस समय निराशा के कारण उदासीन परित्याग रूप अप्रिय व्यवहार से कलुषित, इस दीर्घ वियोग मे आकस्मिक भेंट होने से स्तब्ध के समान, राम की सुजनता से प्रसन्न, प्रिय की करुणा-शोकपूर्ण दशा से दृढ, शोक से युक्त तथा प्रेम से द्रवित हो रहा है।' 'भाव शबलता' का ऐसा सुन्दर उदाहरण तथा भावो का सूक्ष्माङ्कन साहित्य मे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। परुष और कोमल भावो की एक साथ योजना 'भाव सन्धि' के इस उदाहरण मे द्रष्टव्य है :—

"यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपाढे कुमुदिनी,
तथैवास्मिन्दृष्टिर्मम, कलहकामः पुनरयम्।

रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
धृ‍तप्रेमा बाहुर्विकचविकरालव्रणमुखः" ॥५-२६॥

'जिस प्रकार चन्द्र के उदित होने पर कुमोदिनी आनन्दित होती है— विकसित होती है, उसी प्रकार इनको देखकर मेरी दृष्टि प्रफुल्लित हो रही है। लेकिन फिर यह 'रणत्' ऐसे भयंकर शब्द करनेवाली डोरी से गुजित भारी धनुष को प्रेम से धारण करनेवाली, अग्र भाग मे भयंकर व्रण से चिन्हित मेरी भुजा युद्ध की कामना कर रही है।' एक ओर प्रेम है तो दूसरी ओर युद्ध का उत्साह, एक ओर हृदय का आवेग है, तो दूसरी ओर कर्तव्य की प्रेरणा और एक ओर रक्त सम्बन्ध की पुकार है तो दूसरी ओर क्षत्रित्व का दर्प। विरोधी भावो का कैसा अपूर्व सम्मिलन दिखाया है कविप्रवर भवभूति ने। 'भाव शान्ति' का एक और उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त किया जाता है! वनदेवी वासन्ती राम को उपालम्भ देते हुए अपने क्षोभ को व्यक्त कर रही है। किन्तु अचानक ही वह शान्त हो जाती है। किन्तु उसकी वही मूकता, वह सब कुछ कह देती है जो उसकी वाणी नही कह पाती :—

"त्व जीवित त्वमसि मे हृदय द्वितीयं
त्व कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे।
इत्यादिभि· प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण" ॥३-२६॥

'तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा द्वितीय हृदय हो, तुम मेरे नेत्रो की ज्योत्स्ना हो, तुम मेरे शरीर पर अमृत हो। इत्यादि सैकड़ो प्रिय वचनो से भोली सीता का अनुनय करके, उन्ही को अथवा बस, अन आगे कहने से क्या लाभ है।' मूकना के द्वारा भाव की ऐसी सफल व्यंजना करना कुशल कलाकार का ही कार्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि भवभूति की लेखनी पर किस प्रकार विभिन्न भाव आकर थिरकने लगते है और वे अपना तादात्म्य करके किस कौशल से उसकी अभिव्यञ्जना करते है। भवभूति संस्कृत-साहित्य का

ऐसा कुशल कलाकार और भावो का चितेरा है कि उसकी अनुभूति मे आकर कोई भी भाव चित्रित हुए बिना नहीं रहता। समस्त रसो का ऐसा सफल चित्रण भावुक कवि का ही कार्य है।

प्रकृति-चित्रण—महाकवि भवभूति केवल मानव-प्रकृति का ही उद्‌घाटन करने मे समर्थ नही है, अपितु बाह्य प्रकृति का यथार्थ चित्र उपस्थित करने मे भी कुशल है। प्रकृति के प्रति उनके हृदय मे अतुल अनुराग है। इसी कारण उन्होने अपने नाटक की रंगभूमि प्रकृति के विशाल प्राङ्गण मे ही स्थापित की है। उन्होने प्रकृति के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित किया है तभी तो तमसा, मुरला, गोदावरी तथा भागीरथी आदि सरिताएँ तथा वनदेवी वासन्ती उसके पात्रो के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए मानवी रूप धारण कर लेती है। बुद्धिवादियो को भवभूति की यह कल्पना अस्वाभाविक ज्ञात हो सकती है, किन्तु जिनके हृदय मे सरसता का एक कण भी है तथा जो प्रेम के मर्म को जानते है, वे भवभूति के साथ हृदय मिलाकर उसकी प्रशंसा ही करेंगे। प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र मे भवभूति कालिदास से भी बढकर है। कालिदास ने प्रकृति के रम्य चित्रो का ही वर्णन अपनी कलात्मक शैली मे किया है किन्तु भवभूति ने उसके रम्य एवं भीषण दोनो रूपो के यथार्थ चित्र दिये है।

सस्कृत साहित्य मे प्रकृति का वर्णन अधिकाशत· उद्दीपन रूप मे ही हुआ है। भवभूति ने भी 'उत्तररामचरित' के चतुर्थ अङ्क मे प्रकृति को उद्दीपन रूप मे ही चित्रित किया है। राम दण्डकारण्य के लता-कुजो, वृक्षो, सरिता-कूलो एवं पशु-पक्षियो को देखकर शोकाकुल हो जाते है। उनकी अन्तर मे छिपी हुई गूढ व्यथा उन दृश्यो को देखकर फूट पडती है। जिस वन मे सीता के साथ जीवन के चौदह वर्ष व्यतीत किये और जिस वन के कण-कण से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित किया और जिसकी पग-पग भूमि ने सीता के साथ उनके निर्मल प्रेम की साक्षी दी, वही अब पुकार-पुकार उन्हे सीता की स्मृति दिला रहा है। सीता के द्वारा पालित गजशावक और मृग, उनके द्वारा आरोपित लता एवं वृक्ष

राम के हृदय को मानो बाहर खींचे ला रहे है। उनकी वेदना से आँसुओं का ऐसा तार बंधता है, जो रोके नहीं रुकता। किस प्रकार उनका हृदय द्रवित हो उठता है, देखिए :—

"करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत्।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्रवोद्भेदयोग्यः" ॥३-२५॥

'सीता ने अपने कमल-करो से जल, नीवार और घास देकर जिन वृक्ष, पक्षी और मृगो का पोषण किया था, उनको देखने पर प्रसरण की उत्पत्ति के योग्य मेरे हृदय के द्रवित होने के समान कोई विकार उत्पन्न होता है।' प्रकृति का यह स्वरूप राम की वेदना को किस प्रकार उद्दीप्त करता है, यह स्पष्ट है।

संस्कृत साहित्य मे प्रकृति का स्वतन्त्र एवं आलम्बन के रूप मे चित्रण बहुत कम हुआ है। भवभूति ने अपनी अलंकृतिविहीन स्वाभाविक शैली मे प्रकृति के वास्तविक रूप का अङ्कन किया है। उनके संश्लिष्ट चित्र बिम्ब ग्रहण कराने मे पूर्णतया समर्थ है। पर्वतो से प्रवाहित होनेवाले निर्झरो की नैसर्गिक सुषमा का कैसा रम्य एवं मनोरम चित्र कवि ने उपस्थित किया है :—

"इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः" ॥२-२०॥

'यहाँ पर मदमाते पक्षियो से आक्रान्त वेतस के पुष्पो के गिरने से सुगन्धित शीतल तथा स्वच्छ जल से युक्त झरने प्रवाहित हो रहे है। पके हुए फलो से लदे काले जामुन के कुञ्जो से टकराने पर शब्द करती हुई उनकी धाराएँ अनेको प्रवाहो मे बह रही है। कही भी कवि ने अपनी

प्रकृति को अलंकारो से लादकर अस्वाभाविक नही बनाया। अपनी ध्वनि-मूलक शब्द-योजना एवं प्रभावपूर्ण पद-रचना के द्वारा ही प्राकृतिक दृश्यो को इतनी स्पष्ट रेखाओ के द्वारा चित्रित किया है कि वह दृश्य बरबस नेत्रो के समक्ष नृत्य करने लगता है।

कवि भवभूति ने प्रकृति का जैसा सूक्ष्म निरीक्षण किया है, वैसा किसी कवि मे नही मिलता। उन्होने प्रकृति के सामान्य एवं बाह्य दृश्यो का ही अंकन नही किया, अपितु उनकी सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति के उन असामान्य एवं गूढ दृश्यो तक भी पहुँची है तो साधारण जनो की दृष्टि से परे होते है। कवियो ने प्रकृति के प्रायः सुन्दर दृश्यो के अंकन द्वारा ही अपनी लेखनी को गौरवान्वित किया है, किन्तु भवभूति ने प्रकृति के भीषण रूप को भी देखा है। दण्डकारण्य के भयंकर एवं उग्र स्वरूप का भी दर्शन कीजिए :—

"निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरयोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते" ॥२-१६॥

'वन के किसी भाग मे पक्षियो के कूजन आदि के अभाव मे निश्चलता एवं स्तब्धता है, कही अत्यन्त क्रुद्ध तथा हिंस्र जन्तुओ की प्रचण्ड ध्वनि हो रही है, कही स्वेच्छा से सोये हुए तथा गमनशील सर्पो के श्वास से अग्नि उत्पन्न हो रही है। जल कही-कही छोटे गड्ढो मे थोड़ा-सा झलक रहा है, इसलिए प्यासे गिरगिट अजगरो के स्वेदबिन्दुओ को पी रहे है।' कितना प्रभावशाली एवं भयानक दृश्य है और वह भी कवि ने बिना किसी अलंकार की सहायता के अपनी स्वाभाविक शैली मे चित्रित किया है। प्रकृति के एक-एक दृश्य मे कवि-दृष्टि की गहरी पैठ है। उसका प्रत्येक वर्णन जैसे उसकी स्वानुभूति की साक्षी दे रहा है। लगता है कवि ने समीप जाकर प्रकृति को देखा है और फिर उसका वर्णन किया है।

ग्रीष्मकाल मे गोदावरी-तट के इस स्वाभाविक दृश्य का भी अवलोकन कीजिए :—

"कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभि-
घर्मस्रंसितबन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः" ॥२-९॥

'किनारे पर छाया मे चोच से भूमि पर आघात करनेवाले पक्षियो के मुख से जिन वृक्षो के कीडे और छाल निकाले गये है, तथा जहाँ क्लान्त कबूतरो और मुर्गो का समूह शब्द कर रहा है, पक्षियो के घोसलो से युक्त ऐसे वृक्ष हाथियो द्वारा गण्डस्थलो को खुजाते समय रगड़ के कॉप-कर गिरनेवाले और धूप के कारण वृन्तो के शिथिल होने से गिरनेवाले पुष्पो से गोदावरी की पूजा कर रहे है।' कवि ने उत्प्रेक्षा की सहायता से दृश्य को और भी सजीव कर दिया है।

इन उद्धरणो से प्रमाणित होता है कि कवि के हृदय मे प्रकृति के प्रति अनुराग ही नही है अपितु वर्णन की अपूर्व क्षमता है। उसकी वाणी कोमल, मधुर और आकर्षक दृश्यो के साथ-साथ भयंकर, विषम एवं असामान्य दृश्यो के अंकन मे भी समर्थ है।

भाषा-शैली—महाकवि भवभूति का भाषा पर महान् अधिकार है। भाषा उनके संकेतो पर नृत्य करती हुई प्रतीत होती है। कवि जिस भाव की व्यंजना करना चाहता है, उसके अनुकूल शब्दावली स्वतः उसकी भाषा मे आ जाती है। शब्द की आत्मा की जैसी परख भवभूति को है, वैसी बहुत कम कवियों मे पाई जाती है। इसी कारण वे भावानुरूपिणी भाषा लिखने मे समर्थ हुए है। कवि शृंगार एवं करुणा के कोमल भावों की व्यंजना के लिए यदि असमस्त श्रवण-सुखद मनोहर पदावली का प्रयोग करता है, तो वीर, रौद्र एवं भयानक जैसे परुष भावो की व्यंजना केनिमित्त समासयुक्त विकट वर्णो को अपनाता है। कवि रणोन्मत्त लव

की इस उक्ति द्वारा उसके उत्साह की व्यंजना किस प्रकार ओजोगुण-विशिष्ट, दीर्घ समासबहुला गौड़ी शैली में करता है :—

"अयं शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्
प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुत्सर्पद्घनतुमुलहेलाकलकलः
पयोराशेरोघः प्रलयपवनास्फालित इव" ॥५-६॥

'प्रलयकाल की पवन से ताडित समुद्र का प्रवाह जैसे पर्वत के आघात से संचालित वाडवाग्नि की प्रचण्ड कोप-ज्वालाओ के समूह के ग्रास भाव को प्राप्त करता है, उसी प्रकार चारो ओर से फैलता हुआ घना और तुमुल रणक्रीड़ा का कोलाहल मेरे प्रचण्ड कोप की ज्वाला-समूह के ग्रास भाव को प्राप्त करे।'

किन्तु कवि को जहाँ कोमल भावो की व्यंजना अभीष्ट होती है, जहाँ वह तीव्र मनोभावो को अभिव्यंजित करते हुए हमारे हृदय को आन्दोलित करना चाहता है, वहाँ बरबस शैली भी वैदर्भी रीति को अपनाती हुई समास-रहित पदो से युक्त सरल एवं प्रवाहमयी हो जाती है। सीता के प्रति राम अपने आन्तरिक प्रेम की अभिव्यक्ति ऐसी ही मनोरम शैली मे इस प्रकार करते है :—

"म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि" ॥१-३६॥

'हे पद्मनयने! तुम्हारे ये कोमल वचन मुरझाए हुए जीवन-पुष्प को विकसित करनेवाले, भली प्रकार तृप्त करनेवाले, समस्त इन्द्रियो को मोहित करनेवाले, कानो के लिए अमृतस्वरूप और मन के निमित्त रसायन की भाँति है।'

इस प्रकार कवि सरल से सरल तथा कठिन से कठिन भाषा लिखने

मे पूर्णतया सिद्धहस्त है। कभी-कभी तो कवि अपनी भाषा की असामान्य तथा अद्भुतशक्ति का परिचय एक ही छन्द मे दो विरोधी भावो के वर्णन द्वारा देता है। कर्णकटु एवं श्रवण सुखद, क्लिष्टतम एवं सरलतम, समस्त एवं असमस्त पदो की एक साथ आश्चर्यजनक योजना करता है। ऊपर 'भाव सन्धि' का जो उदाहरण (यथेन्दावा ·· व्रणमुखः ॥५-२६॥) दिया गया है उसके पूर्वार्द्ध मे कोमल भाव को अभिव्यक्त करने के लिए वैदर्भी रीति की सुकुमार पदावली अपनाई गई है और उत्तरार्द्ध मे वीरोल्लास की व्यंजना के निमित्त गौड़ी रीति की समासबहुला गाढ बन्धता का प्रयोग किया गया है।

भवभूति की भाषा की दूसरी विशेषता उसकी ध्वनिमूलकता है। कवि विभिन्न भावो की व्यंजना के लिए ऐसे शब्दो का कुशलता से प्रयोग करता है कि उनकी ध्वनि ही अभीष्ट अर्थ को व्यंजित करने मे समर्थ होती है। यदि वह 'क्वणत्कनककिङ्किणीझणझणझणायितस्यन्दनैः' के द्वारा रथो के चलने की झनझनाहट को व्यक्त करता है, 'ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातभुज्जृम्भयन्' के द्वारा युद्ध के वाद्यों के निर्घोष की भीषणता एवं भयंकरता को व्यंजित करता है, तो 'एते ते कुहरेषु गद्‌गदनदद् गोदावरीवारयः' के द्वारा पर्वत की प्रस्तर-कन्दराओ से प्रवाहित गोदावरी की धारा का चित्र उपस्थित करता है। भवभूति के ध्वनि चित्र अपूर्व और आकर्षक है।

भवभूति ने अपने नाटक मे पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। जनक, वशिष्ठ एवं मुनिकुमारो की भाषा धार्मिक एवं दार्शनिक विचारो को वहन किये हुए है। लव की भाषा मे जहाँ एक ओर वाल्मीकि ऋषि के शिष्य होने के कारण धार्मिक सौम्यता एवं शिष्टता है, वहाँ क्षत्रिय-पुत्र होने के कारण वीरोत्साह भी टपकता है। तमसा, मुरला आदि सरिताएँ अपने संवाद में ऐसी उपमाओ का प्रयोग करती है, जो जल से सम्बन्धित है ('धवलमधुरमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः', 'पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया', 'एतास्ता मधुनो धाराः श्च्योतन्ति सविषादस्त्वयि', मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव)।

जैसा कि कहा गया है कि कवि भवभूति 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' थे। इसी कारण उनकी भाषा मे नवीन शब्दो का प्रयोग भी मिलता है, जो 'अमरकोष' मे भी नही मिलते। आकूत, उत्पीड, कन्दल, कुम्भीनस, प्रतिसूर्यक इत्यादि ऐसे ही शब्द है। भवभूति वेदो के भी पडित थे। अतः उनकी शैली पर वैदिक शैली का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। यथा—'अक्षरं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। स त्वां पुनातु देवः परो रजसा, य एष तपति।' कवि ने अपनी भाषा मे कालिदास के समान 'सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति', 'सता सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति', 'पुरन्ध्रीणा चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति', 'तेजस्तेजसि शाम्यतु', 'सर्वमतिमात्रं दोषाद', 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष', 'प्रियानाशे कृत्स्न किल जगदरण्यं हि भवति', 'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्' जैसे अनुभवसिद्ध सिद्धान्त वाक्यो का भी प्रयोग किया है।

'उत्तररामचरित' के पद्यो की भाषा मे ही प्रौढता एवं प्राञ्जलता के दर्शन नही होते अपितु गद्य की भाषा मे भी वैसा ही सौष्ठव दिखाई देता है। राम के सौन्दर्य का वर्णन सीता के द्वारा कैसी सुन्दर भाषा मे कराया गया है—'अहो, दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्ध मसृणमासलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमितातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरदारखडितशंकरशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमण्डलं आर्यपुत्र आलिखितः।'

भवभूति ने अपनी शैली मे अनेको स्थलो पर मार्मिक व्यंग्यो का सुन्दर प्रयोग किया है। राम का सीता-निर्वासन की आज्ञा देते समय 'नूतन राजा' शब्द का प्रयोग उनके हृदय के क्षोभ और अन्तर की वेदना तथा राजा होने के कारण ग्लानि आदि की अभिव्यञ्जना करने के साथ ही आज्ञा की कठोरता एवं अनिवार्य पालन का भी संकेत करता है। इसी भॉति तमसा द्वारा राम के लिए 'ऐक्ष्वाकोराजा' विशेषण का प्रयोग कराकर उनके वंश-मर्यादा-पालन की व्यञ्जना कराई है और जनक द्वारा उनके लिए 'प्रजापालकस्य' कहलवाकर जनक के क्षोभ और प्रजारंजन के नाम पर अपनी निर्दोष पत्नी को त्यागने की राम की निष्ठुरता की

'जिस प्रकार शरदृऋतु की धूप केतकीपुष्प के भीतरी पत्ते को मलिन कर देती है, उसी प्रकार हृदय-कमल को शुष्क करनेवाला कठोर और दीर्घ शोक, वृन्त से टूटे हुए सुन्दर पल्लव की भाँति पीली एवं क्षीण सीता के शरीर को मलिन करता है।' सीता की क्षीणता के वर्णन मे कवि ने उन्हे करुण रस की मूर्ति अथवा शरीरिणी विरह-व्यथा कहकर मूर्त की अमूर्त भाव से उपमा दी है। मूर्त की अमूर्त से उपमा को लोग पश्चिमी प्रभाव और आधुनिक काल की देन कहते हैं। किन्तु भवभूति से उसकी भारतीयता प्रमाणित होती है। कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारो के साथ तुल्य योगिता, काव्यलिंग, स्वभावोक्ति, दृष्टान्त, समुच्चय, स्मरण, सन्देह, उल्लेख, विरोधाभास, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुत प्रशंसा, विषम, तद्गुण, यथासख्य इत्यादि अलंकारो का यथास्थान प्रयोग किया है।

भवभूति का छन्दविधान भी श्लाघ्य है। उन्होने भावों के अनुकूल ही छन्द अपनाये है। कोमल भावो के लिए कम वर्णवाले तथा परुष भावो के लिए लम्बे छन्द अपनाये है। उन्होने 'उत्तररामचरित' में अनुष्टुप्, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, उपजाति, मंजुभाषिणी, हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, पुष्पिताग्रा, द्रुतविलम्बित, पृथ्वी, आर्या, वंशस्थ, नामक छन्दो का प्रयोग किया। इनमे भवभूति की शिखरिणी प्रसिद्ध है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भवभूति की शिखरिणी की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

"भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे मयूरीव नृत्यति"॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उत्तररामचरित' एक सफल नाटक है जिसमें गीतिकाव्य की मधुरिमा, नाटकीय सोत्प्रासों की चमत्कारिता, रस की मधुर धारा एवं कला की चारुता का अपूर्व सामञ्जस्य है। इसी कारण संस्कृत के उत्तमोत्तम नाटकों में इसकी गणना की जाती है। किसी ने ठीक कहा है :—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

सहायक ग्रंथ

संस्कृत

१—नाट्यशास्त्र—भरत मुनि
२—दशरूपक—धनञ्जय
३—भाव-प्रकाशन—शारदातनय
४—अभिनयदर्पण—नन्दिकेश्वर

हिन्दी

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास—डा० बलदेव उपाध्याय
२—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—श्री चन्द्रशेखर शास्त्री
३—संस्कृत-कवि-दर्शन—डा० भोलाशङ्कर व्यास
४—अभिनव नाट्यशास्त्र—श्री सीताराम चतुर्वेदी
५—शूद्रक—आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय

अंग्रेजी

1. Sanskrit Drama—Dr. A. B. kieth.
2. History of Sanskirt Literature—Macdonel.
3. History of Sanskirt Litrature—Vardachari.
4. Indian Theatre—Dr. C. B. Gupta.